माड़ू राम
बनाम
भारत संघ और अन्य
(Maru Ram
v.
Union of India and Others)

भीमवा राम
बनाम
भारत संघ और अन्य
(Bhimwa Ram
v.
Union of India and Others)

शंकर
बनाम
भारत संघ और अन्य
(Shanker
v.
Union of India and Others)

कृष्ण
बनाम
भारत संघ और अन्य
(Krishna
v.
Union of India and Others)

1980(11) eILR(PAT) S

रघुबीर सिंह

बनाम

भारत संघ और अन्य

(Raghubir Singh

v.

Union of India and Others)

रामपूजा सिंह

बनाम

भारत संघ और अन्य

(Rampuja Singh

v.

Union of India and Others)

निरभय सिंह

बनाम

भारत संघ और अन्य

(Nirbhai Singh

v.

Union of India and Others)

बालकृष्ण गुप्ता

बनाम

भारत संघ और अन्य

(Balkrishan Gupta

v.

Union of India and Others)

वेनो सिंह

बनाब

भारत संघ और अन्य

(Veny Singh

v.

Union of India and Others)

1980(11) eILR(PAT) SC 122

बाबूलाल गौतम

बनाम

भारत संघ और अन्य

(Babulal Gautam

v.

Union of India and Others)

ओम प्रकाश

बनाम

भारत संघ और अन्य

(Om Prakash

v.

Union of India and Others)

नागभूषणम् पटनायक

बनाम

भारत संघ और अन्य

(Nagabhushanam Patnaik

v.

Union of India and Others)

रघुनाथ सिंह

बनाम

भारत संघ और अन्य

(Raghunath Singh

v.

Union of India and Others)

जागीर सिंह

बनाम

पंजाब राज्य

(Jagir Singh

v.

State of Punjab)

1980(11) eILR(PAT) SC 122

अजीत सिंह

बनाम

पंजाब राज्य

(Ajit Singh

v.

State of Punjab)

मुंशी राम और एक अन्य

बनाम

भारत संघ और अन्य

(Munshi Ram and Another

v.

Union of India and Others)

फकीर सिंह

बनाम

भारत संघ और अन्य

(Faqir Singh

v.

Union of India and Others)

जनार्दन और अन्य

बनाम

भारत संघ और अन्य

(Janardhan and Others

v.

Union of India and Others)

सुन्दर राम

बनाम

भारत संघ और अन्य

(Sunder Ram

v.

Union of India and Others)

1980(11) eILR(PAT) SC 122

हरमत अली

बनाम

भारत संघ और अन्य

(Harmat Ali

v.

Union of India and Others)

महादेव और अन्य

बनाम

उत्तर प्रदेश राज्य

(Mahadeo and Others

v.

State of Uttar Pradesh)

गोविन्द गौडा

बनाम

भारत संघ और अन्य

(Govinda Gowda

v.

Union of India and Others)

कलुआ और अन्य

बनाम

उत्तर प्रदेश राज्य

(Kalua and Others

v.

State of Uttar Pradesh)

राम पाल और अन्य

बनाम

भारत संघ और अन्य

(Rampal and Others

v.

Union of India and Others)

तथा

बंत सिंह और अन्य

बनाम

भारत संघ और अन्य

(Bant Singh and Others

v.

Union of India and Others)

(11 नवम्बर, 1980)

(मुख्य न्यायाधिपति वाई० वी० चन्द्रचूड़, न्यायाधिपति पी० एन० भगवती, वी० आर० कृष्ण अय्यर, एस० मुर्तजा फ़ज़ल अली और ए० डी० कौशल)

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2)—धारा 433-क [1978 के संशोधन अधिनियम द्वारा यथा-अन्तःस्थापित और सपठित संविधान का अनुच्छेद 14]—नवीन धारा 433-क द्वारा यह उपबन्ध किया जाना कि आजीवन कारावास से दण्डादिष्ट बंदी को कम से कम चौदह वर्ष की अवधि तक कारागार में रहना पड़ेगा—आजीवन कारावास के बंदियों द्वारा यह आक्षेप किया जाना कि उससे संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण होता है—धारा 433-क से संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण नहीं होता है, क्योंकि वह सुधार वाले आजीवन बंदियों और अन्य आजीवन बंदियों के बीच प्रभेद नहीं करती और इसलिए वह मनमानी और असांविधानिक नहीं है।

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2)—धारा 433-क [1978 के संशोधन अधिनियम द्वारा यथा-अन्तःस्थापित]—धारा 432, 433(क) और 5—धारा 433-क के अधीन आजीवन कारावास से दण्डादिष्ट बंदियों के लिए कम से कम 14 वर्ष की अवधि तक कारावास में दण्ड भुगतना अनिवार्य किए जाने के परिणामस्वरूप धारा 432 का प्रवर्तन भी अपवर्जित हो गया है और इसके साथ ही धारा 433(क) के प्रवर्तन पर भी यह प्रतिबन्ध लग गया है कि उसके अधीन लघूकृत कारावास की वास्तविक अस्तित्वावधि 14 वर्ष की कालावधि से किसी भी स्थिति में कम नहीं होगी।

1980(11) eILR(PAT) SC 122

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2)—धारा 433-क [1978 के संशोधन अधिनियम द्वारा यथा-अन्तःस्थापित और सपठित संविधान का अनुच्छेद 246(2), अनुसूची 7, सूची 3 की प्रविष्टि 2]—धारा 433-क द्वारा आजीवन कारावास के उन बंदियों के लिए जो मृत्यु से दण्डादिष्ट किए जा सकते थे, किन्तु जिसको लघूकृत करके आजीवन कारावास में परिवर्तित कर दिया गया हो, कम से कम 14 वर्ष की अवधि तक दण्ड भुगतना अनिवार्य बनाया जाना—ऐसे बंदियों की ओर से यह आक्षेप किया जाना कि संसद् ऐसी विधि बनाने के लिए सक्षम नहीं है—संसद् को संविधान के अनुच्छेद 246(2) के अधीन यह शक्ति है कि वह सप्तम अनुसूची की सूची 3 की प्रविष्टि 1 और 2 में प्रगणित किन्हीं विषयों की बाबत विधि बना सकेगी—धारा 433-क ऐसी ही विधि है जो कि उक्त शक्ति की परिधि के भीतर है तथा वह धारा 432 और 433(क) की मात्र उपरिका के रूप में कार्य करती है—अतः संसद् ने ऐसी विधि बना कर असांविधानिक कार्य नहीं किया है ।

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) — धारा 433-क [1978 के संशोधन अधिनियम द्वारा यथा-अन्तःस्थापित और सपठित संविधान का अनुच्छेद 20(1)]—उक्त धारा पर इस आधार पर आक्षेप किया जाना कि उसके प्रवर्तन में भूतलक्षी प्रभाव की प्रवृत्ति मौजूद है, इसी कारण वह असांविधानिक है—वास्तव में धारा 433-क से अनुच्छेद 20(1) का अतिक्रमण नहीं होता, क्योंकि उससे दण्ड का विस्तार भूतलक्षी प्रभाव से नहीं होता है।

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2)—धारा 433-क (1978 के संशोधन अधिनियम द्वारा यथा-अन्तःस्थापित)—भविष्य-लक्षी प्रभाव से लागू होना—धारा 433-क का प्रभाव भविष्यलक्षी है—इसी कारण यदि ऐसा व्यक्ति जिसका मृत्यु—दंडादेश लघूकृत कर दिया गया है, परिहार सम्बन्धी स्कीमों और लघुदण्डादेशन परियोजना के फायदे प्राप्त करने का हकदार होगा, परन्तु यह तब जब कि ऐसा लघूकरण धारा 433-क के प्रवृत्त होने से पूर्व किया गया हो ।

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2)—धारा 433-क (1978 के संशोधन अधिनियम द्वारा यथा-अन्तःस्थापित और

सहपठित संविधान के अनुच्छेद 72 और 161)—धारा 433-क से संविधान के अनुच्छेद 72 और 161 का इस आधार पर अतिक्रमण नहीं होता कि वह धारा 432 और 433(क) के प्रवर्तन से विचलन करती है।

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2)—धारा 433-क (1978 के संशोधन अधिनियम द्वारा यथा-अन्तःस्थापित) और धारा 5—परिहार और लघुदण्डादेशन सम्बन्धी स्कीमें—उक्त स्कीमों को धारा 5 के बल पर इस आधार पर संरक्षा प्रदान नहीं की जा सकती कि वे विशेष विधियां हैं—चूंकि धारा 433-क विनिर्दिष्ट विधि है, इसलिए उसे विशेष विधियों (अर्थात् उक्त स्कीमों) की तुलना में अभिमानता प्राप्त होगी।

संविधान, 1950—अनुच्छेद 72 और 161 (सपठित दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 433-क)—क्षमा करने की शक्ति—जब कि केन्द्रीय सरकार या राज्य सरकार यथास्थिति अनुच्छेद 72 या 161 के अधीन क्षमा-शक्ति का प्रयोग कर रही हो, तो उसे ऐसी शक्ति का प्रयोग धारा 433-क के विधायी अभिप्राय को ध्यान में रखकर करना चाहिए।

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2)—धारा 433-क (1978 के संशोधन अधिनियम द्वारा यथा-अन्तःस्थापित) धारा 433-क में सुधारवादी दृष्टिकोण का अभाव है, क्योंकि बन्दियों को लम्बी अवधि तक कारागार में रखने से अपराध-रोग का उपचार नहीं होता।

संसद् (छठी लोकसभा) ने कदाचित यह महसूस किया कि देश में हत्या जैसे जघन्य अपराधों में बड़ी तेजी के साथ वृद्धि होती जा रही है। इसका मुख्य कारण यह प्रतीत हुआ कि कतिपय सरकारें दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) की धारा 432 और 433(क) के उपबन्धों का दुरुपयोग कर रही हैं। चूंकि धारा 433(क) के अधीन समुचित सरकार को मृत्यु के दण्डादेश को लघूकृत करके किसी अन्य दण्ड में परिवर्तित करने की शक्ति थी, अतः अनेक सरकारें मृत्यु के दण्डादेश से दण्डादिष्ट व्यक्ति के दण्ड को लघूकृत करके आजीवन कारावास के दण्ड में परिवर्तित कर देती थीं। ऐसे लघूकरण का परिणाम यह होता था कि सम्बन्धित सरकारें आजीवन कारावास से दण्डादिष्ट ऐसे अनेक हत्यारों के कारावास की अवधि को

धारा 432(1) के अधीन या तो निलम्बित कर देती थीं अथवा लघूकृत कर देती थीं और वे अपराधी आजीवन बन्दी न रह कर कुछ वर्षों तक ही कारागार में रहते थे और बाद में जेल से छूट जाते थे। इस कारण संसद् को बड़ी चिन्ता हुई। अतः संयुक्त समिति (ज्वाइंट कमेटी) ने भारतीय दण्ड संहिता (संशोधन) विधेयक का अध्ययन करने के बाद यह सुझाव दिया कि आजीवन कारावास से दंडादिष्ट बंदियों को काफी लम्बी अवधि तक कारावास का दण्ड भुगतना चाहिए। उसी सिफारिश के परिणामस्वरूप दण्ड संहिता की धारा 57 में इस आशय का परन्तुक जोड़ने की सिफारिश की गई। चूंकि यह उपबन्ध प्रक्रिया सम्बन्धी उपबन्ध था, अतः संसद् ने दण्ड प्रक्रिया संहिता (संशोधन) अधिनियम, 1978 द्वारा धारा 433-क अलग धारा के रूप में जोड़ दी। धारा 433-क के अस्तित्व में आ जाने का परिणाम यह हुआ कि आजीवन कारावास के बन्दी को कम से कम चौदह वर्ष तक कारावार में रहना अनिवार्य हो गया। उच्चतम न्यायालय में अनेक आजीवन बन्दियों की ओर से धारा 433-क को अन्य बातों के साथ-साथ इस आधार पर चुनौती दी गई कि उससे संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण होता है तथा संसद् ने ऐसी धारा अधिनियमित करके अनुच्छेद 72 और 161 का अतिक्रमण किया है। रिट पिटीशन खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित—न्यायालय, उच्चतम न्यायालय के रूप में, यह कहने की स्थिति में नहीं हैं कि हत्यारे के लिए कम से कम 14 वर्ष की अवधि मनमानी, अप्रायिक रूप से क्रूर और असांविधानिक है। अतः यह अभिनिर्धारित किया गया कि संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण नहीं हुआ है। जहां तक दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 433-क के पदों का सम्बन्ध है, वह आजीवन कारावास के दो वर्गों को ही लागू होती है। इस उपबन्ध का वास्तविक सार यह है कि धारा 433-क में विनिर्दिष्ट किए गए दो विनिर्दिष्ट प्रवर्गों में बन्दी को, वस्तुतः, कारावास की उतनी न्यूनतम अवधि भुगतनी होगी जितनी कि उसमें दी गई है। जहां कि भयावह अपराध किया गया है, दण्ड संहिता में अधिकतम दण्ड के लिए मृत्यु की शास्ति विहित की गई है। मामलों के जिस मुख्य समूह में न्यायालयों ने आजीवन कारावास का दण्डादेश वस्तुतः अधिरोपित किया है, वह ऐसे प्रवर्ग से सम्बन्धित हैं जिसमें दण्ड देने के लिए विकल्प मौजूद रहता है, जहां कि न्यायालय को मृत्यु की शास्ति या आजीवन कारावास अधिरोपित करने का उत्तरदायित्वपूर्ण विवेकाधिकार प्राप्त होता है और वस्तुतः वह केवल आजीवन कारावास का ही दण्डादेश देता है। ऐसे मामलों में भी जिनमें न्यायालय किसी सिद्धदोष व्यक्ति को मृत्यु का

दण्डादेश देता है, प्रायः समुचित सरकार, धारा 433-क के बल पर घातक दण्डादेश को कम करके, आजीवन कारावास में सम्परिवर्तित कर देती है। धारा 433-क मामले के इन वर्गों का प्रवर्गीकरण पृथक् से करती है। जहां कि अपराध इतना गम्भीर होता है जिससे कि सम्भावित दण्डादेश के रूप में मृत्यु की शास्ति दी जा सकती है, वहां संसद्, अपनी बुद्धि के अनुसार, यह मत अपनाती है कि सुधारवादी न्यायिक दण्डादेश द्वारा या कार्यपालिका द्वारा किए जाने वाले कानूनी लघूकरण के जरिए उस दण्डादेश की कठोरता का मूल्यांकन नहीं किया जाना चाहिए जो कि स्पष्टतः कम गम्भीर प्रकार के अपराधों के लिए दिए जाने वाले आजीवन दण्डादेश के समान हो जिनमें स्वयं विधि ने आजीवन कारावास को ही अधिकतम दण्डादेश के रूप में, न कि मृत्यु की शास्ति को अधिक कठोर अनुकल्प के रूप में, नियत किया है, तर्क प्रांजल है यद्यपि दाण्डिक विचार को ध्यान में रखते हुए उसकी युक्तियुक्तता संदिग्ध है। इस बारे में सन्देह है कि यह वर्गीकरण ऐसे युक्तियुक्त अन्तर पर आधारित है जिसका सम्बन्ध सामाजिक रक्षा के दाण्डिक उद्देश्य से है। यहां पर यह कहना पर्याप्त है कि यदि संसद् की इच्छा का सम्यक् सम्मान किया जाए, तो इस वर्गीकरण की आलोचना यह कहकर नहीं की जा सकती कि वह इतना सनकपूर्ण है जिससे कि उसको अनुच्छेद 14 के साथ पठित अनुच्छेद 13 का घातक परिणाम लागू हो सके। प्रस्तुत सामग्री के आधार पर धारा 433-क को इसलिए अभिखण्डित नहीं किया जा सकता क्योंकि उसका वर्गीकरण सनकपूर्ण है। किसी समय जबकि मानव-विज्ञान काफी प्रगति कर लेगा और असंस्थागत अनुकल्पों का पूरी तरह से विकास हो जाएगा, उस समय, 14 वर्ष के कारावास के उपचार में संसद् का जो विश्वास है, वह तब्दील हो सकता है या इस आधार पर उसे चुनौती दी जा सकती है कि वह अवैज्ञानिक रूप से विश्वसनीय तथा अंधविश्वासपूर्ण रूप से क्रूर है। (पैरा 53)

यदि दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 433-क को पढ़ा जाए, तो सार्थक और निरर्थक के बीच विभाजक रेखा का पता सरलता के साथ चल जाता है। यदि इन खण्डों अर्थात् (धारा 432, 433 और 433-क) के समूह को साथ-साथ पढ़ा जाए, तो उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जहां संहिता दण्डादेशों के परिहार और लघूकरण की विस्तृत शक्तियां प्रदत्त करती है, वहीं उसका आशय ऐसी कार्यपालक शक्तियों के विस्तृत क्षेत्र में से आत्यंतिक प्रवर्ग को बहुत जोर देकर ग्रहण करना है। सर्वोपरि खण्ड, जैसा कि वह है, धारा 432 को अपवर्जित करता है और शेष धारा का सम्पूर्ण आदेश धारा 433(क) के प्रवर्तन पर निश्चित रूप से गम्भीर निर्बन्धन लगा

देता है। यह प्रतिबन्ध इस बात का निदेश देता है कि ऐसे मामलों में लघूकरण के परिणामस्वरूप कारावास की वास्तविक अस्तित्वावधि चौदह वर्ष के नीचे नहीं की जाएगी। यह कि क्या उस धारा में कोई घातक सांविधानिक कमजोरी मौजूद है, एक दूसरा विषय है, किन्तु वह इस अत्याश्यक आशय को जोरदार ढंग से घोषित करती है कि उन लोगों को जो कि धारा 433-क के प्रभावी भाग में बताए गए दूषित प्रवर्गों के भीतर आते हैं, कम से कम चौदह वर्ष तक कारावास में रखा जाए। अतः, स्पष्टतः, राज्यों को परिहार-पद्धतियों के विषय में नियम बनाने की शक्ति प्राप्त है और बहुत दिनों से अनेक राज्यों ने ऐसे नियम बनाए हैं और उन्हें कार्यान्वित किया है। वे शक्त्याधीन हैं, क्योंकि परिहारों और इनामों से सम्बन्धित नवीन विधान भी सूची 2 की प्रविष्टि 4 के अधीन वैध होते हैं। इन सामयिक स्कीमों से संविधान की अधिनियमिति समाप्त नहीं हो जाती। किन्तु यदि प्रक्रिया संहिता जैसी केन्द्रीय विधि से उनका टकराव हो जाता है या वे उसके विरुद्ध हो जाती हैं, तो वे भागतः प्रभावहीन हो जाती हैं। यदि धारा 433-क मात्र विरुद्ध होने के कारण कतिपय वर्गों के आजीवन बन्दियों के विषय में कारागार में परिहार करने से सम्बन्धित राज्य की विधियों को स्थायी रूप से निष्प्रभाव कर देती है, तो पूर्वकथित, असंगति की स्थिति में, अवश्य ही अभिभावी होगी। यह मानते हुए कि कारागार अधिनियम के अधीन बनाए गए नियम विधिमान्य हैं और राज्य की विधि के रूप में उन्हें रद्द नहीं किया जा सकता, धारा 433-क और कारागार संबंधी नियमों को सामंजस्यपूर्ण रूप में पढ़ने से रास्ता निकल आएगा। अन्यथा, बाद वाली विधि को अवश्य ही अभिभावी होना चाहिए या उससे यह निष्कर्ष निकाला जाना चाहिए कि वह विवक्षित रूप से निरसित कर दी गई है। (पैरा 19)

संहिता की धारा 433-क का सम्पूर्ण कार्य और उद्देश्य कारागार के परिहारों के प्रभाव को समाप्त करना था। परिणामस्वरूप गम्भीरतर आजीवन बंदियों को असम्यक् रूप से शीघ्र छोड़ दिया जाता था। संसद् को इस बुराई का पता था, उसके समक्ष राज्य की परिहार संबंधी पद्धतियां थीं और उसने आदेशात्मक भाषा का उपयोग करके कतिपय प्रवर्ग के मामलों में उनके प्रभाव को अकृत करना चाहा था। धारा 433-क का इस प्रकार अर्थान्वियन करने से जिससे कि राज्य के परिहार संबंधी नियमों को अध्यारोही प्रभाव दिया जा सके, सप्रयोजन कार्य हास्यास्पद रूप से व्यर्थ हो जाएगा। यदि विधियों में भाषा संबंधी दोष मौजूद हो, तो न्यायालय को उसकी भाषा ठीक कर देनी चाहिए, न कि उन्हें समाप्त कर देना चाहिए। अतः यह

अभिनिर्धारित करने में कोई भी हिचकिचाहट नहीं है कि धारा 433-क में 'के होते हुए भी' शब्दों के होते हुए भी, परिहार संबंधी नियम और तत्प्रकार के उपबंध वहां तक अपवर्जित हो जाते हैं, जहां तक कि मृत्यु-दण्ड्य अपराधों से दण्डित आजीवन बंदियों का संबंध है। (पैरा 21)

यह घिसी-पिटी विधि है कि सप्तम् अनुसूची की सूचियों में विधान की मुख्य-मुख्य बातें मोटे तौर से वर्णित की गई हैं और उनका निर्वचन उदारता के साथ किया जाना चाहिए। संविधान का अनुच्छेद 246(2) संसद् को यह शक्ति देता है कि वह सूची में प्रगणित विषयों में से किसी के भी संबंध में विधियां बना सकेगी। सूची 3 में की प्रविष्टि 1 और 2 (विशिष्टतः प्रविष्टि 2) इतनी अधिक व्यापक हैं कि उनकी परिधि के भीतर ऐसा विधान आ जाता है जैसा कि दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 433-क में अन्तर्विष्ट है, जो कि धारा 432 और 433-क की मात्र उपरिका (राइडर) अधिनियमित करती है। इससे यह अर्थ नहीं निकाला जा सकता कि वह 'कारागार और बन्दी' के विषय पर बनाया गया विधान है। दूसरी ओर, इसमें दण्ड संहिता द्वारा उपबंधित दण्ड के निष्पादन की निचली सीमा निर्धारित की गई है और समुचित रूप से प्रक्रिया संहिता में निष्पादन और दण्डादेश से संबंधित अध्याय में उसे स्थान दिया गया है। यदि यह निश्चित स्थिति स्वीकार कर ली जाती है कि दण्डादेशों का निष्पादन परिहार और लघूकरण, जैसा कि पहले वाली संहिता (दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1898) में था, मुख्यतः वर्तमान प्रक्रिया संहिता (के अध्याय 32) के भीतर आता है, तो धारा 433-क को सूची 3 की प्रविष्टि 2 को ऐसे सजातीय उपबंध के रूप में सही तौर से समनुदिष्ट किया जा सकता है जो कि परिहार और लघूकरण के लिए महत्वपूर्ण हो, क्योंकि उसमें पूर्ववर्ती दोनों धाराओं द्वारा प्रदत्त शक्ति की सीमाएं निर्धारित की गई हैं। पहले वाले विधान के परन्तुक के रूप में इस सीमित अभिनिषिद्ध का संबंध दण्डादेश के निष्पादन से, न कि कारावार की दशाओं से बंदी के जीवन के विनियमन से है। एक ओर कारागारों और बंदियों के बीच तथा दूसरी ओर, दण्डादेशों और उनके निष्पादन, परिहार और लघूकरण के बीच जो प्रभेद है, वह बारीक किन्तु वास्तविक है। धारा 433-क को यह कहकर खोटा बताना कि वह सूची 3 की प्रविष्टि 2 की सक्षमता के बाहर है, विधायी सूचियों के सांविधानिक निर्वचन के सभी सिद्धांतों का उल्लंघन करना है। संसद् को सक्षमता प्राप्त है। (पैरा 15)

थोड़ी देर के लिए यह माना जा सकता है कि परिहार और लघूकृत दण्डादेशों से संबंधित विधियां सूची 2 की प्रविष्टि 4 के अधीन अधिनियमित की

गई है। उस स्थिति में अधिनियमित करने संबंधी राज्यों की सक्षमता को चुनौती नहीं दी जा सकती। जो कुछ भी हो, कारागार-बंदी से संबंधित विधान में भी, कभी कड़ाई करके, कभी नर्मी करके कारागार में रहने की शक्यता में वृद्धि करने के लिए और कारागार के अधिकारी और बंदी के बीच विरोध को कम करने के लिए लाभदायक उपबंध हो सकता है। परिहार करने का प्रस्ताव, क्रोध पर्यवेक्षित निर्मुक्तियां, कुटुम्ब से सम्पर्क करवाकर आत्म-सुधार के लिए अवसर देना, सामुदायिक संकर्म केन्द्रों में और अध्ययन केन्द्रों में भी समय देना उचित रूप से कारागार विषयक विधान से संबंधित हो सकते हैं। परिहार करके इनाम देना, जैसे कि एकान्त में रखकर दण्ड देना, सूची 2 की प्रविष्टि 4 के अधीन अनुज्ञेय है। फिर भी, राज्य की शक्ति अनुच्छेद 246(1)(2) के अध्यधीन है और इसी कारण से संसदीय विधान, राज्य के विधान पर अभिभावी होता है। इसके अलावा, अनुच्छेद 254 इस टकराव का निपटारा संसदीय विधान के पक्ष में करता है। यदि राज्य का आशय सूची 3 की प्रविष्टि 2 के अधीन विधान बनाना है, तो ऐसी विधि, राज्य में संसदीय विधान के विरुद्ध केवल तभी अभिभावी हो सकती है, यदि अनुच्छेद 254(2) के उपबंधों के अनुसार राष्ट्रपति की अनुमति उसे प्राप्त हो गई है। प्रस्तुत मामले में कोई भी संदेह नहीं है कि धारा 433-क 'कारागार और बंदी' से संबंधित किसी राज्य विधान पर उस दशा में भी अभिभावी होगी, यदि उसका उपबंध केन्द्रीय विधि के विरुद्ध है। परिहार संबंधी स्कीम का अर्थ विपर्यस्त दण्डादेशों के रूप में न करके, कारागार में अच्छे आचरण के लिए इनामों तथा परिहारों के लिए उपबंध मात्र के रूप में तथा तत्प्रकार की बातों के रूप में कर सकते हैं। यदि दण्डादेश आजीवन कारावास है, तो परिहारों से उस रूप में, सहायता नहीं मिल सकती। यदि दण्डादेश नियत अवधि के लिए है, तो परिहारों से, उस रूप में, सहायता मिल सकती है, किन्तु धारा 433-क उसमें बाधक नहीं हो सकती। इस प्रकार धारा 433-क और परिहार संबंधी उपबंधों के बीच कोई भी असंगति नहीं है। (पैरा 16)

इंग्लैण्ड की प्राचीन विधि का यह नियम है कि उन शास्तियों से जो कि अपराध के करने के समय अभिभावी थीं, अधिक भारी शास्तियां भूतलक्षी प्रभाव से अधिरोपित करना अनिष्टकारी है। इसके परिणामस्वरूप भारत के संविधान में अनुच्छेद 20(1) अधिनियमित किया गया है। संक्षिप्त प्रश्न यह है कि क्या छोड़ने के लिए न्यूनतम अवधि के रूप में 14 वर्ष पर अनम्य रीति से जोर देने से दण्ड में पूर्वव्यापी रूप से वृद्धि होती है। यही निष्कर्ष निकालने

की दृष्टि से जो दूसरी दलील दी गई है, वह यह है कि यदि अपराध करने के समय परिहारों की कतिपय लाभदायक स्कीम लागू थी, तो वह शास्ति जो उसे उस समय दी जाती, दण्ड संहिता में बताया गया दण्ड नहीं थी, बल्कि वह दण्डादेश थी जिसे परिहार सम्बन्धी स्कीम या दण्डादेश को कम करने सम्बन्धी उपबंध द्वारा कम कर दिया गया है या लघुकृत कर दिया गया है। इस आधार पर, आजीवन बंदी मामूली तौर से 14 वर्ष के बहुत पहले ही जो कि धारा 433-क द्वारा विहित कठोर, किन्तु आज्ञापक न्यूनतम अवधि है, छोड़ दिए गए होते। यह उस दण्ड से जो कि उस अपराध को उस समय लागू होता जबकि वह किया गया था, अधिक बड़ा दण्ड अधिरोपित करती है। (पैरा 27)

प्रथमतः, यह सर्वविदित है कि भारतीय दण्ड संहिता की धारा 302 (या उसी प्रकार का अन्य उपबन्ध) आजीवन कारावास का दण्डादेश नियत करती है। चौदह वर्ष की अस्तित्वावधि आजीवन कारावास की अवधि से कभी भी अधिक बड़ी नहीं है। दूसरे, आजीवन कारावास की दशा में कारावास के सम्पूर्ण अतिशेष दण्डादेश में कमी करने के बाद परिहार केवल तभी किया जाता है जब कि छोड़ने का अन्तिम आदेश दिया जाता है। इस प्रकार यदि परिहारों को पूरा महत्व दिया जाता है, तो छोड़ने की तारीख तब तक नहीं आ सकती हैं जब तक कि धारा 432 के अधीन सरकार सभी अनवसित और अनिश्चित अतिशेष का परिहार नहीं करती। यदि यह बात नहीं की जाती है, तो बन्दी अभिरक्षा में बना रहेगा। (पैरा 28)

यह पुरानी विधि है कि सभ्य दण्ड-न्यायशास्त्र, बाद वाली किसी विधि द्वारा अधिक भारी दुख-भोग के पूर्वलक्षी अधिरोपण को वर्जित करता है। मामूली तौर से, किसी दण्ड विधान का निर्वचन इस प्रकार से किया जाना चाहिए कि वह भविष्यलक्षी है। न्यायालय का अभिप्राय अनुच्छेद 20(1) के क्षेत्र में हस्तक्षेप करना नहीं है। न्यायालय का जो अभिप्राय है, वह धारा 433-क में प्रयुक्त विशेषण का इस प्रकार अर्थान्वयन करना है जिससे कि उससे स्वाभाविक परिणाम, मानवीय निष्कर्ष और न्यायोचित अधिरोपण की बात स्पष्ट हो जाए। जहां कि किसी भी सिद्धदोष व्यक्ति को जिसे न्यायिक दण्डादेश दिया गया है, यह दलील देने का कोई भी निहित अधिकार नहीं है कि शास्ति हल्की कर दी जानी चाहिए और जो विधि शास्ति को पूरी तरह से लागू किए जाने के लिए विवश करती है, वह उसको पूरी तरह से लागू नहीं की जा सकती, वहीं न्यायालय का यह कृत्य है कि वह उस समय औदार्य-पूर्ण अर्थान्वयन करे जब कि वह सामान्य अनुक्रम में किसी दाण्डिक कानून के

सम्बन्ध में विचार कर रहा हो। मानवीय दृष्टिकोण से प्रेरित यह सिद्धान्त, जो कि कतिपय अत्यन्त समाज-विरोधी प्रवर्गों को लागू नहीं होता है, धारा 433-क को उचित रूप से लागू किया जा सकता है। इस का आधार यह है कि विद्यमान विधिक परिपाटियों के आधार पर सिद्धदोष नागरिकों को (कारावास से) मुक्ति प्राप्त करने की प्रत्याशाओं पर पाश्चिक विधान या वैधानिक कार्यवाही द्वारा तब तक पानी नहीं फेरना चाहिए जब तक कि उसकी भाषा सन्देह से परे न हो। अर्थ को अभिनिश्चित करने में मामूली तौर से जो उदारता बरती जाती है, वह स्वाधीनता के पक्ष में वहां रहती है जहां कि स्वतन्त्रता से वंचित करने की अवधि विवाद्य होती है। संक्षेप में, अन्य बातें समान रहते हुए, किसी दाण्डिक क़ानून में सन्देह का फायदा नागरिक को दिया जाना चाहिए। इस खण्ड का स्पष्ट अर्थ यह है कि "है" से "है" अभिप्रेत है और इसी कारण से यदि किसी व्यक्ति को धारा 433-क के प्रवृत्त होने के बाद आजीवन कारावास का दण्डादेश दिया गया है, तो ऐसा दण्डादेशिती उसमें उपवर्णित 14 वर्ष की शर्त पूरी करने के पूर्व नहीं छोड़ा जाएगा। यदि यही बात और निश्चितार्थता के साथ प्रस्तुत की जाए, तो ऐसा व्यक्ति जिसे धारा 433-क के प्रवृत्त होने के पूर्व दोषसिद्ध किया गया है, इस उपबन्ध की परिधि के बाहर हो जाता है और वह ऐसे फायदे प्राप्त करेगा जो कि धारा 433-क को दण्ड प्रक्रिया संहिता में सम्मिलित किए जाने के पूर्व उसे प्रोद्भूत होते थे। यदि मृत्यु के दण्डादेश को इस धारा के प्रवृत्त होने के बाद लघूकृत्य किया गया है, तो ऐसा व्यक्ति तब तक नहीं छोड़ा जाएगा, जब तक कि उसमें दी गई शर्तों का अनुपालन न कर दिया गया हो। "है" और 'हो' ऐसे शब्द नहीं हैं जिन पर इस धारा में के व्याकरण के सिद्धान्त के अनुसार पर्याप्त रूप से विचार किया जाना है और इसी कारण से क्रिया के वर्तमान काल और पूर्ण वर्तमान काल पर जो अत्यधिक जोर दिया गया है, वह स्पष्ट रूप से सूचक नहीं हो सकता। साधारण दाण्डिक कानूनों का अर्थान्वयन करने में उनसे सम्बन्धित साधारण नियम इस मामले को भी लागू होना चाहिए। एक दूसरी स्थिति में, इस न्यायालय ने "दण्डादिष्ट किया गया है" अभिव्यक्ति के अभिप्राय का निर्वचन करते हुए यह अभिनिर्धारित किया था कि इस खण्ड की भाषा भविष्यलक्षिता के सम्बन्ध में अस्पष्ट है। इससे निश्चित रूप से यह अर्थ निकलता है कि प्रत्येक ऐसा व्यक्ति जिसे दण्डादेश देने वाले न्यायालय ने 18 दिसम्बर, 1978 से पूर्व दोषसिद्ध किया है, परिहार, परियोजना या लघूकरण दण्डादेशन से सम्बन्धित परियोजना से उसको प्रोद्भूत होने वाले फायदों का हकदार इस प्रकार होगा मानो कि

धारा 433-क उसके रास्ते में बाधक न हो। इस धारा में किसी व्यक्ति की "दोषसिद्धि" शब्द का प्रयोग किया गया है और इस संदर्भ में उससे दण्डादिष्ट करने वाले न्यायालय द्वारा की गई "दोषसिद्धि" अभिप्रेत है; क्योंकि उसी ने उसकी दैहिक स्वाधीनता से उसे वंचित करने के लिए कारावास की अवधि निश्चित की थी। (पैरा 55)

जब कोई व्यक्ति अपील में दोषसिद्ध किया जाता है, तो उससे यह अर्थ निकलता है कि अपील न्यायालय ने अपनी शक्ति का प्रयोग मूल न्यायालय के स्थान पर किया है, और अपराध, दोषसिद्धि तथा दण्डादेश विचारण न्यायालय के निर्णय के स्थान पर प्रतिस्थापित कर दिए जाने चाहिए तथा उसके निर्णय की तारीख से उनका प्रभाव पूर्वलक्षी होगा। अपील न्यायालय द्वारा की गई दोषसिद्धि का सम्बन्ध विचारण न्यायालय के अभिमत की तारीख से होना चाहिए और उसे उसका स्थान लेना चाहिए। इस दृष्टि से, यदि अपील न्यायालय धारा 433-क के प्रवृत्त होने के पूर्व, दोषमुक्ति सम्बन्धी पहले वाले आदेश को उलट देता है, किन्तु अपील मंजूर कर लेता है और अभियुक्त को धारा 433-क के प्रवृत्त होने के बाद दोषसिद्ध कर देता है, तो ऐसा व्यक्ति उस आधार पर धारा 433-क के पहले अभिभावी परिहार सम्बन्धी पद्धति का फायदा प्राप्त करने का भी हकदार होगा। अपील, मूल निर्णय के प्रतिस्थापन के रूप में, न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय की निरन्तरता है। (पैरा 56)

यह पक्षकथन नहीं किया गया है कि संविधान के अनुच्छेद 72 और 161 के उपबन्धों पर धारा 433-क के उपबंध अभिभावी होंगे। निस्संदेह, "जहां कि क्षमा करने की शक्ति अनन्यतः सर्वोच्च कार्यपालक में निहित होती है, वहां ऐसी विधि जो उस शक्ति को निर्बन्धित करती है, असांविधानिक होती है"। शक्ति का प्रयोग करने में सुविधाजनक बनाने वाले नियमों का आधार भिन्न होता है। संविधान सर्वोच्च विधि है और किसी भी विधान को, चाहे वह संसद् द्वारा ही क्यों न बनाया गया हो, उसके समक्ष झुकना ही पड़ेगा। उन दोनों अनुच्छेदों के विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है; और न ही उस शाही परमाधिकार के ऐतिहासिक अवशेष के बारे में कुछ कहने की आवश्यकता है, जिसे इंग्लैण्ड के विभिन्न कानूनों के जरिए भारत में स्थान मिल गया है और अन्ततः जिसका विकास क्षमा की उस शक्ति के रूप में हुआ है जो राष्ट्रपति और राज्यपाल में निहित है और जो सारवान् रूप से अतिव्यापन सीमा तक तथा समवर्ती रूप से उन्हीं के द्वारा प्रयोज्य है। (पैरा 57)

वस्तुतः, धारा 433-क को इस आधार पर अविधिमान्य नहीं ठहराया जा सकता कि वह अनुच्छेद 72 और 161 का अप्रत्यक्ष रूप से अतिक्रमण करती है। यह संहिता जो कुछ देती है, वह उसे ले भी सकती है और इसी कारण धारा 432 और 433(क) पर जो प्रतिबन्ध लगाया है, वह संसद् की विधायी शक्ति के भीतर है। (पैरा 59)

जिस बात पर ज़ोर दिया गया है, वह यह है कि धारा 433-क पुरःस्थापित करके, धारा 432 को कतिपय वर्गों के आजीवन बन्दियों के सम्बन्ध में स्थायी रूप से पंगु बना दिया गया है और धारा 433(क) को निष्प्रभाव कर दिया गया है। चूंकि धारा 432 और 433(क) कानूनी अभिव्यक्तियां हैं और उनमें सांविधानिक शक्ति के काम करने का ढंग दिया गया है, इसीलिए धारा 433-क अप्रभावी है, क्योंकि वह धारा 432 और धारा 433(क) के प्रवर्तन से विचलित होती है, जो कि संविधान के अधीन क्षमा-शक्ति की, जैसी कि वह है, विधायी प्रतिनिधि है। (पैरा 58)

यह स्पष्ट है कि ऊपर से दोनों शक्तियां, एक सांविधानिक और दूसरी कानूनी, सहविस्तारी है। दोनों बातें समरूप हो सकती हैं, किन्तु एक नहीं हो सकतीं। निश्चित रूप से यही अन्तर है। यह ठीक नहीं है कि ऐसी शक्ति की जो कि संहिता का परिणाम है, समानता संघ और राज्य के सर्वोच्च कृत्यकारियों में संविधान द्वारा निहित उच्च परमाधिकार से की जा सकती है। स्रोत भिन्न है, उसका सार भिन्न है, आधार भिन्न है, यद्यपि दोनों साथ-साथ समान रूप से चल रहे हैं। निस्सन्देह, इन दोनों शक्तियों के समान होने का तो प्रश्न ही नहीं है और स्पष्टतः सांविधानिक शक्ति 'अछूती' और 'अनुपगम्य' है तथा उसमें साधारण विधायी प्रक्रियाओं के विपर्यास के दोष नहीं हो सकते। (पैरा 59)

व्यावृत्ति सम्बन्धी इस धारा का विश्लेषण सरल, किन्तु अति सूक्ष्म, है। मोटे तौर से तीन संघटकों को अलग-अलग किया जाना है। प्रथमतः, साधारण रूप से प्रक्रिया संहिता उसके अन्तर्गत आने वाले विषयों को लागू होती है। द्वितीयतः, यदि उसी क्षेत्र को अपने अन्तर्गत लाने वाली कोई विशेष या स्थानीय विधि विद्यमान होती, तो यह पश्चात्कथित विधि व्यावृत्त होगी और अभिभावी होगी। दण्डादेश को लघूकृत करने से सम्बन्धित अध्युपाय और विशेष राज्यों द्वारा प्रस्थापित परिहार सम्बन्धी स्कीमें विशेष या स्थानीय विधियां हैं और उन्हें अवश्य ही अध्यारोही होना चाहिए। उसके बाद तीसरा संघटक आता है जो कि महत्वपूर्ण हो सकता है। यदि उसके प्रतिकूल कोई

विनिर्दिष्ट उपबन्ध हैं, तो वह विशेष या स्थानीय विधि को अध्यारोहित करेगा। क्या धारा 433-क प्रतिकूल विनिर्दिष्ट विधि है? यदि ऐसा है तो वह अन्तिम बात होगी और विशेष या स्थानीय विधि के विरुद्ध भी कायम रहेगी। (पैरा 33)

निस्संदेह, भारत के राष्ट्रपति को अनुच्छेद 72 के अधीन और राज्य सरकार को अनुच्छेद 161 के अधीन क्षमा प्रदान करने, मृत्यु दण्ड को रोकने, कम करने आदि की पूर्णरूपेण और अनिर्बन्धित शक्तियां हैं। इस शक्ति को किसी कानूनी उपबन्ध द्वारा न तो प्रत्यावर्तित किया जा सकता है अथवा उपान्तरित किया जा सकता है या उसमें हस्तक्षेप किया जा सकता है। किन्तु यह तथ्य रह जाता है कि शक्ति जितनी भारी होगी, उसका प्रयोग उतनी ही सावधानी से होगा। ऐसा विशेषकर इस कारण से है क्योंकि वर्तमान अधिनियमिति स्वयं केन्द्रीय सरकार द्वारा पेश करने पर संसद् द्वारा पारित की गई है। अतएव यह स्पष्ट है कि संविधान के पूर्वोक्त अनुच्छेद के अधीन शक्तियों का प्रयोग करते समय न तो राष्ट्रपति के लिए जो मंत्रि-परिषद् की सलाह पर कार्य करता है, और न ही राज्य सरकार के लिए धारा 43 के उद्देश्य, भावना और दर्शन को नज़र-अन्दाज करने की सम्भावना है जिससे कि वैधानिक आशय और कार्यपालक शक्ति के बीच झगड़ा उत्पन्न हो। विधि की प्रस्थापना के रूप में इस पर संदेह नहीं किया जा सकता कि जहां कोई शक्ति किसी अत्यन्त उच्च प्राधिकारी में निहित होती है वहां यह उपधारणा की जानी चाहिए कि उक्त प्राधिकारी मामले के समस्त पहलुओं पर उद्देश्यात्मक रूप से विचार करने के पश्चात् औचित्यपूर्वक और सावधानी से कार्य करेगा। (न्या० फज़ल अली) (पैरा 100)

अपराध नियन्त्रण के साधन के रूप में कारावास की असफलता और मुक्त वातावरण में असंस्थागत अनुकल्पों की खोज, इन दोनों को, तब अत्यधिक महत्व प्राप्त हो जाता है जब कि धारा 433-क के अधीन व्यक्तिगत दण्ड का यान्त्रिक अपवर्जन करने पर विचार किया जा रहा हो, कारावास में क्रूरतापूर्ण 14 वर्ष तक रहने की बात पर ऐसे मानसिक संकट के जो कि अपराधजनक तत्व है, सुलभाव के रूप में विचार किया जा रहा हो, तथा जबकि इस स्पष्ट तथ्य की उपेक्षा की जा रही है कि कम से कम कुछ समय के बाद सुधार-गृह का उपचार, अपराध-व्यसन के रोग में वृद्धि करता है। (पैरा 68)

न्यायाधिपति कौशल—

राज्य द्वारा किसी अपराधी को दण्ड दिए जाने से जिन चार उद्देश्यों को प्राप्त करना आशयित है, वे निवारण, निरोध, प्रतिकार और सुधार हैं जिन्हें

पूर्ण रूप से मान्यता प्राप्त है और उन पर कोई मतभेद होने की सम्भावना नहीं है। अपने निवारक उद्देश्य में दण्ड की गणना एक ऐसे कार्य के समान की गई है जो अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध समाज-विरोधी कार्य में व्यस्त होने के लिए जिसके लिए यह दिया जाता है, एक चेतावनी है। यह एक निरोध के रूप में कार्य करता है क्योंकि अपराधी का बन्दीकरण जब तक जारी रहता है, उसके लिए आपराधिक कार्य को पुनः करना असम्भव बना देता है। उसे एक विधि का पालन करने वाले नागरिक में परिवर्तित करना निश्चय ही शास्ति सम्बन्धी विधान का एक दूसरा उद्देश्य है, किन्तु उसी प्रकार से प्रतिकार है जिसका वर्णन भी सामाजिक निन्दा और विधि को महत्व देने के एक प्रतीक के रूप में किया गया है। वह प्रश्न जिस पर न्यायालय द्वारा विभिन्न मत व्यक्त किए गए हैं, वह प्रभाव है जिसके लिए विधानमंडल का आशय उक्त चार उद्देश्यों में से प्रत्येक पर डालना है। (पैरा 77)

विसम्मत निर्णय :

(न्यायाधिपति फजल अली)

इन परिस्थितियों में न्यायालय की यह राय है कि संसद् ने अपराधियों को घृणित अपराध करने से उनका निवारण करके बुद्धिमत्ता का कार्य किया है जिससे कि अपराधी कारावास की चौदह वर्ष की न्यूनतम अवधि भोगे बिना दण्डादेश में सरलतापूर्वक कमी करके या उसे परिवर्तित करके निर्मुक्त न हो सके, जो वस्तुतः एक पर्याप्त निवारक के रूप में कार्य कर सकता है जो अपराधियों को अपराध करने से रोक सकता है। देश के अधिकतर भागों में विशेष कर उत्तर में ऐसे मामले कम नहीं हैं जहां कोई व्यक्ति जिसे आजीवन कारावास का दण्डादेश दिया गया है और अनेक छूटें प्राप्त करने के पश्चात् वापस आने पर वह अपराध फिर से बार-बार करता है। मात्र यह तथ्य कि दीर्घकालिक अवधि का दण्डादेश अथवा उस सम्बन्ध में कोई मृत्यु दण्ड के लाभदायी परिणाम नहीं मिलते हैं, या तो मृत्यु दण्ड के समाप्त करने अथवा आजीवन कारावास की अवधि को 14 वर्ष से कम के दण्डादेश तक घटाने के तर्क का समर्थन नहीं कर सकता। प्रश्न यह नहीं है कि जो कुछ हुआ है वह दण्ड संहिता के उपबन्धों के कारण हुआ है बल्कि यह है कि यदि निवारक दण्डादेश न दिया जाए तो उसका परिणाम क्या होगा। वर्तमान कष्टदायी और अशान्तिपूर्ण वातावरण में हमारी भावना यह है कि यदि निवारक दण्डादेश प्रत्यावर्तित न किया गया तो सम्पूर्ण देश में अकुलता फैल जाएगी और अपराधी हमारे देश के हजारों निर्दोष व्यक्तियों के जीवन को खतरे में डालने के लिए आजाद हो जाएंगे। राज्य के पास उसके सभी सिद्धान्तों के होते हुए उसके लिए सभी नागरिकों के जीवन और

1980(11) eILR(PAT) SC

स्वतन्त्रता की रक्षा अथवा गारण्टी करना कठिन हो जाएगा यदि अपराधियों को छोड़ दिया जाए और निवारक दण्डादेश या तो समाप्त कर दिया जाए अथवा कम कर दिया जाए। दूसरे, जबकि अपराधी का सुधार इस मामले का केवल एक पक्ष है, घटनाग्रस्त व्यक्तियों का पुनः स्थापित किया जाना और उन यंत्रणाओं और कष्टों से जो उन्हें, अपराधियों द्वारा किए जाने वाले अपराधों के परिणामस्वरूप होते हैं, अनुरोध प्रदान करना एक ऐसा तथ्य है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि निवारक दण्डादेशों को समाप्त करने के लिए अपराधियों के हित का संरक्षण करते समय उसे पूर्ण रूप से नजरअन्दाज कर दिया गया है। जहां एक व्यक्ति तीन हत्याएं करता है वहां अपराधी के लिए कोई अभिवाक् प्रस्तुत करना और इस बात पर कोई भी ध्यान दिए बिना कि आहत व्यक्तियों और उनके परिवारों पर क्या गुजरी है, उनके जीवित रहने के लिए तर्क देना तर्कहीन है। कोई व्यक्ति जिसने किसी दूसरे व्यक्ति को उसकी दैहिक स्वाधीनता से सदैव के लिए वंचित कर दिया है और उसके परिवार की स्वाधीनता को खतरे में डाल दिया है, उसे न्यायालय से यह मांग करने का कोई अधिकार नहीं है कि उसकी दैहिक स्वाधीनता बनाई रखी जाए। स्वाधीनता कोई एकपक्षीय धारणा नहीं है, न ही संविधान के अनुच्छेद 21 में किसी ऐसी धारणा की कल्पना की गई है। यदि कोई व्यक्ति दाण्डिक अपराध करता है और उसे विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया द्वारा दण्ड दिया गया है जो स्वतन्त्र और ऋजु है और जहां अभियुक्त की पूर्ण रूप से सुनवाई की गई है वहां अनुच्छेद 21 का उल्लंघन करने का कोई प्रश्न तब नहीं उठता है जब दण्ड के प्रश्न पर विचार किया जा रहा हो। इस पर भी 1973 की दण्ड प्रक्रिया संहिता के उपबंधों में अपराधी को उसका दोष साबित होने के पश्चात् उन परिस्थितियों को दर्शित करने का अवसर देने का उपबंध किया गया है जिनके अधीन कोई समुचित दण्डादेश उस पर अधिरोपित किया जा सकता हो। ये गारण्टियां पर्याप्त रूप से अनुच्छेद 21 के उपबंध का अनुपालन करती हैं। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि दण्ड विज्ञान की समस्या पर विचार करते समय हमें विपदाग्रस्त व्यक्तियों के हित और उन व्यक्तियों के दुःखों को नजरअन्दाज नहीं करना चाहिए जिनकी मृत्यु होती है, जिन्हें कष्ट भोगना पड़ता है अथवा जो अपराधियों के हाथों अंग-विच्छेदित हो जाते हैं। (पैरा 97)

1980(11) eILR(PAT) SC 122

अनुसरित निर्णय

		पैरा
[1976]	[1976] सप्लीमेंट एस० सी० आर० 552 : **मध्य प्रदेश राज्य बनाम रतन सिंह और अन्य** (State of Madhya Pradesh *v.* Ratan Singh and Others);	30
[1974]	ए० आई० आर० 1974 एस० सी० 147 : **सम्भाजी कृष्णजी बनाम महाराष्ट्र राज्य** (Sambha Ji Krishan Ji *v.* State of Maharashtra);	30
[1961]	[1961] 3 एस० सी० आर० 440 : **गोपाल विनायक गोडसे बनाम महाराष्ट्र राज्य** (Gopal Vinayak Godse *v.* State of Maharashtra);	20, 25, 26, 28, 30, 72
[1961]	[1961] 2 एस० सी० आर० 133 : **राभा वाला मामला** (Rabha's Case);	20, 24, 26, 58
[1953]	[1953] एस० सी० आर० 1 : **अश्विनी कुमार घोष और एक अन्य बनाम अरविन्द बोस और एक अन्य** (Aswini Kumar Ghosh and Another *v.* Arabinda Bose and Another).	20

व्युत्सृत निर्णय

[1941]	ए० आई० आर० 1941 बॉम्बे 146 : **बीरम सरदार और अन्य बनाम सम्राट** (Biram Sardar and Others *v.* Emperor);	34, 38
[1939]	एल० आर० (1939) इण्डियन अपील्स 66 : **पाकाला नारायण स्वामी बनाम दि किंग एम्परर** (Pakala Narayana Swamy *v.* The King Emperor).	34

1980(11) eILR(PAT) SC

अनुमोदित निर्णय

[1940] ए० आई० आर० 1940 इलाहाबाद 263 :
बलदेव और अन्य बनाम सम्राट
(Baldeo and Others *v.* Emperor); 34, 36, 38

[1940] ए० आई० आर० 1940 लाहौर 129 :
हकीम खुदा यार बनाम सम्राट
(Hakim Khuda Yar *v.* Emperor). 34, 35, 38

निर्दिष्ट निर्णय

[1981] (1981) 2 एस० सी० सी० 684 :
बचन सिंह बनाम पंजाब राज्य
(Bachan Singh *v.* State of Punjab); 45, 51, 53, 97

[1980] [1980] 2 उम० नि० प० 961=(1979) 3 एस० सी० सी० 489 :
आर० डी० शेट्टी बनाम अन्तर्राष्ट्रीय विमान पत्तन प्राधिकरण
(R. D. Shetty *v.* International Airport Authority); 63

[1979] [1979] 3 उम० नि० प० 407=(1978) 4 एस० सी० सी० 494 :
सुनील बत्रा बनाम दिल्ली प्रशासन
(Sunil Batra *v.* Delhi Administration); 40, 51

[1979] [1979] 3 उम० नि० प० 376=(1978) 4 एस० सी० सी० 104 :
चार्ल्स सोबराज बनाम अधीक्षक, केन्द्रीय कारागार, तिहाड़
(Charles Sobraj *v.* Superintendent Central Jail, Tihar); 43

[1979] [1979] 1 उम० नि० प० 243=(1978) 1 एस० सी० सी० 248 :
मेनका गांधी बनाम भारत संघ
(Maneka Gandhi *v.* Union of India); 39

1990(11) eILR(PAT) SC 122

[1978]	[1978] 3 उम० नि० प० 996=(1977) 4 एस० सी० सी० 44 : हीरा लाल मल्लिक बनाम बिहार राज्य (Hira Lal Mullick *v.* State of Bihar);	43
[1978]	[1978] 3 उम० नि० प० 712=(1977) 3 एस० सी० सी० 287 : मोहम्मद गियासुद्दीन बनाम आन्ध्र प्रदेश राज्य (Mohammad Giasuddin *v.* State of Andhra Pradesh);	43
[1975]	[1975] 1 उम० नि० प० 357=[1975] 1 एस० सी० आर० 814 : शमशेर सिंह और एक अन्य बनाम पंजाब राज्य (Shamsher Singh and Another *v.* State of Punjab);	61
[1975]	[1975] 1 एस० सी० आर० 192 : बाउचर पियरे अन्द्रे बनाम अधीक्षक, केन्द्रीय कारागार, तिहाड़ (Boucher Pierre Andre *v.* Superintendent, Central Jail, Tihar);	55
[1969]	ए० आई० आर० 1969 केरल 81 : वी० पुन्नन थामस बनाम केरल राज्य (V. Punnan Thomas *v.* State of Kerala);	63
[1962]	(1962) 3 ऑल इंग्लैण्ड रिपोर्ट्स क्वीन बैंच डिवीज़न 751 : नैट बुक एग्रीमेंट वाला मामला (Net Book Agreement's case);	37
[1899]	(1899) 172 मैसाचुसेट 264 : मर्फी बनाम कामनवैल्थ (Murphy *v.* Commonwealth).	29

1980(4)(II) eILR(PAT) SC 122

आरम्भिक अधिकारिता : 1970 के रिट पिटीशन सं० 865, 1980 के रिट पिटीशन सं० 641, 1980 के रिट पिटीशन सं० 409, 783, 695, 690, 747, 4346 में, 1979 के रिट पिटीशन सं० 147, 1980 के रिट पिटीशन सं० 1860, 1980 के रिट पिटीशन सं० 2329, 4195, 1365, 457, 869, 4311-12, 813, 2505, 1659, 3784-94, 2602-10, 4376-91, 4392-95, 4404 और 1177.

(भारत के संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन फाइल किए गए रिट पिटीशन)

पिटीशनरों की ओर से (रिट पिटीशन 865 और 695 में)	डॉ० एल० एम० सिंघवी, श्री एम० के० बग्गा, श्रीमती एस० बग्गा और श्री नन्द लाल
पिटीशनरों की ओर से (रिट पिटीशन 641 में)	सर्वश्री पी० आर० मृदुल, नेमी चन्द चौधरी और सुशील कुमार
पिटीशनरों की ओर से (पिटीशन सं० 409 और 1365 में)	सर्वश्री ए० के० सेन तथा उमा दत्त
पिटीशनरों की ओर से (रिट पिटीशन सं० 783 में)	डॉ० एल० एम० सिंघवी, सर्वश्री एस० के० जैन, ए० एस० सोहल, सुशील कुमार और एल० के० पांडे
पिटीशनरों की ओर से (रिट पिटीशन सं० 690 में)	श्री आर० के० गर्ग और श्रीमती उर्मिला सिरूर
पिटीशनरों की ओर से (रिट पिटीशन सं० 747 में)	सर्वश्री के० बी० रोहतगी और एस० एम० शास्त्री
पिटीशनरों की ओर से (रिट पिटीशन सं० 4311-12 4376-95, 3784-94, 1177 में)	श्री एस० एन० कक्कड़ (1177, 4311-12, 3784-94), श्री आर० एन० कटारा (4376-95), सर्वश्री जी० के० बंसल और बी० एस० मलिक (1177)
पिटीशनर की ओर से (रिट पिटीशन सं० 147 में)	सर्वश्री पी० आर० मृदुल और एच० के० पुरी

पिटीशनर की ओर से (रिट पिटीशन सं० 1860 में)	श्री एस० एस० खंडूजा
पिटीशनर की ओर से (रिट पिटीशन सं० 2389 में)	श्री अरुण मदान
पिटीशनर की ओर से (रिट पिटीशन सं० 457 में)	सर्वश्री एस० एस० सोहल, एम० सी० ढींगरा और पी० एन० गुप्त
पिटीशनर की ओर से (रिट पिटीशन सं० 869 में)	सर्वश्री आर० एल० कोहली और आर० सी० कोहली
पिटीशनर की ओर से (रिट पिटीशन सं० 813 में)	सर्वश्री पी० आर० मृदुल, ए० एस० सोहल, एम० सी० ढींगरा और ललित गुप्त
पिटीशनरों की ओर से (रिट पिटीशन सं० 2505 में)	श्री एल० एन० गुप्त
पिटीशनरों की ओर से (पिटीशन सं० 1659 में)	सर्वश्री श्रीनाथ सिंह, विजय के० जिंदल, सर्व मित्तर और एम० जी० गुप्त
पिटीशनरों की ओर से (रिट पिटीशन सं० 2602-10 में)	सर्वश्री ए० पी० मोहन्ति, एस० के० सब्बरवाल, सी० पी० पांडे और ललित गुप्त
पिटीशनरों की ओर से (रिट पिटीशन सं० 4404 में)	सर्वश्री आर० के० गर्ग, वी० जे० फ्रांसिस और सुनील कुमार जैन
पिटीशनरों की ओर से (रिट पिटीशन सं० 4115 में)	सर्वश्री वी० एम० तारकुंडे, गोविन्द मुखोटी और पी० के० गुप्त
पिटीशनर की ओर से (रिट पिटीशन सं० 4346 में)	स्वयं
प्रत्यर्थी सं० 1 की ओर से (रिट पिटीशन सं० 457 और 869 को छोड़कर सभी रिट पिटीशनों में)	श्री के० परसरन, सालिसिटर जनरल श्री एम० के० बनर्जी, अपर सालिसिटर जनरल और श्री एन० नेत्तर तथा कुमारी ए० सुभाषिणी
प्रत्यर्थी सं० 2 की ओर से और प्रत्यर्थी की ओर से (रिट पिटीशन सं० 865 और 147 में)	श्री बद्रीदास शर्मा

उत्तर प्रदेश राज्य की ओर से (रिट पिटीशन सं० 865, 4392-95, 4376-91 में)	सर्वश्री ओ० पी० राणा, एस० सी० महेश्वर और आर० के० भट्ट
प्रत्यर्थी की ओर से (रिट पिटीशन सं० 457 और ४69 में)	सर्वश्री ओ० पी० शर्मा और एम० एस० ढिल्लों
प्रत्यर्थी (राज्य) की ओर से (रिट पिटीशन सं० 2505 में)	सर्वश्री एम० सी० भण्डारे और एम० एन० श्रॉफ
अन्य प्रत्यर्थियों की ओर से (रिट पिटीशन सं० 2602-10 में)	श्री एम० वीरप्पा
प्रत्यर्थी की ओर से (रिट पिटीशन सं० 4115 में)	सर्वश्री पी० राम रेड्डी और जी० एन० राव

न्यायालय का निर्णय न्यायाधिपति वी० आर० कृष्ण अय्यर ने दिया।

न्यायाधिपति कृष्ण अय्यर—

आजीवन कारावास के अनेक सिद्धदोष व्यक्ति, जिनकी संख्या दो हजार से कुछ ऊपर ही होगी तथा और लोग भी जो कि तब भी आते जा रहे हैं, जब कि दलीलें दी जा रही हैं, अपने विद्वान् काउन्सेलों के जरिए, जो कि अपने हाथ में सांविधानिक अभ्युपायों के हथियार लिए हुए हैं और जो उन्हें जेल से छोड़ने की मांग कर रहे हैं, प्रतिनिधिक रूप से इस न्यायालय में आए हैं। उन्होंने दण्ड प्रक्रिया संहिता (जिसे संक्षेप में प्रक्रिया संहिता कहा गया है) की धारा 433-क की शक्तियों को चुनौती दी है, जो कि दो वर्गों के कैदियों को कम से कम 14 निरन्तर नारकीय वर्षों तक, कारागार से सम्बन्धित विधि द्वारा स्वीकृत कल्याणकारी परिहार और दया पर आधारित रियायतों तथा मानवीय न्याय का ध्यान न रखते हुए, कारागार में डालने के लिए विवश करती है। उनका नैराश्य ओसकर वाइल्ड की इन तीखी पंक्तियों में सर्वाधिक अच्छे ढंग से व्यक्त किया गया है—

> "मैं नहीं जानता
> कि क्या विधियां ठीक हैं,
> या कि क्या विधियां गलत हैं;
> जो कुछ भी हम जानते हैं,
> वह यह है

1980(11) eILR(PAT) SC 122

कि कारागार में कौन है;
यह कि उसकी दीवार कितनी मजबूत है,
और यह कि प्रत्येक दिन
एक वर्ष के समान है—
ऐसा वर्ष जिसके दिन लम्बे होते हैं।"

(जोर देने के लिए रेखांकित)

किन्तु टूटे हुए हृदय कारागार की दीवार नहीं तोड़ सकते। चूंकि कारागार विधि के प्रस्तरों से बनाए जाते हैं, इसलिए स्वाधीनता की कुंजी भी विधि की अभिरक्षा में रहती है। इसलिए, काउन्सेलों ने ऐसी लम्बी और विद्वत्तापूर्ण दलीलें पेश की हैं, जिनमें प्रबुद्धकारी अलंकार भरे पड़े हैं। किन्तु स्वयं न्यायाधीश विधि के बन्दी होते हैं और विधि के अनुसार न्याय करके मुक्त करने के सिवाय किसी भी बन्दी को मुक्त करने के लिए स्वतन्त्र नहीं होते हैं। फिर भी महात्मा गांधी के गुरुवत् डेविड होरो के विप्लवकारी शब्दों में न्यायाधीशों के लिए भी एक विचित्र संदेश मौजूद है—

"विधि मनुष्यों को कभी भी
स्वतन्त्र नहीं करेगी,
मनुष्य ही विधि को स्वतन्त्र करेंगे;
वे विधि और व्यवस्था के प्रेमी हैं,
जो कि विधि का पालन,
तब करते हैं,
जब कि सरकार उसे तोड़ती है।"

पिटीशनरों का पक्षकथन यह है कि संसद ने धारा 433-क अधिनियमित करके संविधान की विधि तोड़ दी है।

2. निश्चित प्रश्न और उसकी पृष्ठभूमि में जो तथ्य हैं, अब हम उन पर विचार करेंगे। सभी पिटीशनर दो प्रवर्गों में से एक या अन्य के हैं। वे ऐसे व्यक्ति हैं जिन्हें न्यायालय ने उन मामलों में जहां कि दोषसिद्धि ऐसे अपराधों के लिए की गई है जिनके लिए गम्भीरतर अनुकल्प के रूप में मृत्यु की शास्ति अधिरोपित की जाती है, आजीवन कारावास का दण्डादेश दिया है या वे ऐसे व्यक्ति हैं जिन्हें न्यायालय ने वास्तव में मृत्यु का दण्डादेश दिया है जिसे समुचित सरकार ने दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 433(क) के अधीन लघूकृत करके आजीवन कारावास में बदल दिया है। आजीवन बंदियों के इन दोनों प्रवर्गों को साथ-साथ बांधने वाली सामान्य बात (यदि हम संक्षिप्तता की दृष्टि

से अस्पष्ट शब्द का उपयोग कर सकें तो) स्पष्ट है। अपराध इतने गम्भीर हैं कि दंड संहिता ने आनुकल्पिक दण्ड के रूप में "मृत्यु" का दण्डादेश विहित किया है, यद्यपि वास्तविक तथ्य के रूप में, न्यायिक दया या कार्यपालिका की उदारता के परिणामस्वरूप उस घातक प्रहार को—किन्तु एक बहुत बड़ी कीमत पर—आजीवन कारावास में परिवर्तित कर दिया है।

3. 1978 में धारा 433-क के अधिनियमित किए जाने के पूर्व, ये आजीवन बंदी, परिहार और कारागार से छोड़े जाने की दशा में उन अन्य बन्दियों के रूप में माने जाते थे जिन्हें ऐसे कम गम्भीर अपराधों के लिए जिनके लिए आनुकल्पिक सम्भावना के रूप में दण्ड की शास्ति अधिरोपित नहीं की जाती, आजीवन कारावास से दण्डादिष्ट किया गया था। लगभग 40 ऐसे अपराध हैं जिनके लिए मृत्यु की चरम शास्ति के बिना, अनुकल्प के तौर पर आजीवन कारावास का अधिकतम दण्डादेश अधिरोपित किया जाता है। परिहार और (कारागार से) छोड़ने से सम्बन्धित नियम सभी बंदियों के लिए सामान्य थे और अधिकांश राज्यों ने कारागार अधिनियम, 1894 के अधीन नियम बनाए थे या उनमें से कुछ ने ऐसे पृथक अधिनियम अधिनियमित किए थे जिनमें दण्डादेशों के या उनके रूपभेदों के लघूकरण के लिए उपबन्ध किया गया था, जिसने, उस अपराध का ध्यान न रखते हुए जिसके कारण आजीवन कारावास से दण्डादिष्ट बंदी को कारागार में डाला गया था, आजीवन कारावास के दण्डादेश की पूरी अवधि व्यतीत होने के बहुत पहले ही उसे कारागार से छूटने में—प्रायः लगभग 7 या 10 या 12 वर्ष या कभी-कभी उससे भी पहले छोड़े जाने में—समर्थ बनाया था। उसके बाद 1978 में, उस समय के मानवीय अधिकारों के कर्कश निर्घोष के बावजूद, संसद ने दण्ड प्रक्रिया संहिता में संशोधन किया और वस्तुतः सहमति के साथ धारा 433-क को बहुत ही कठोरता के साथ अधिनियमित किया जिसने दो वर्गों के ऐसे मामलों में जिनमें न्यायालय अपराधी को मृत्यु का दण्डादेश दे सकता था, किन्तु जिसने दिया नहीं या जिनमें न्यायालय ने अपराधी को मृत्यु का दण्डादेश तो दिया, किन्तु वह दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 433(क) के अधीन अनुदत्त आजीवन कारावास के लघूकरण के कारण जीवित रह गया, आज्ञापक न्यूनतम कारावास की अवधि के रूप में पूरे 14 वर्ष के लिए कारागार में वास्तविक निरोध करना बाध्यकारी बनाया था। सभी आजीवन बन्दियों ने जो इन्हीं दो प्रवर्गों के हैं—और हमारे कारागारों में आजीवन सिद्धदोषों का एक बहुत बड़ा समूह इन्हीं लोगों का है—अचानक यह पाया कि परिहार विषयक स्कीम के अधीन छोड़े जाने की उनकी मानवीय आकांक्षा को उनसे विधिक रूप से छीन लिया गया है।

1980(11) eILR(PAT) SC 122

अनुच्छेद 32 के अधीन पेश किए गए रिट पिटीशनों में से अधिकांश इसी तीव्र मानसिक वेदना के कारण पेश किए गए हैं और हताश बन्दियों ने इस नकारात्मक उपबन्ध (धारा 433-क) के विरुद्ध इस आधार पर दलीलें पेश की हैं कि वह सांविधानिक अभिशाप है और दण्ड सम्बन्धी पूर्वज-प्रवृत्ति के रूप में है तथा यह कहा है कि संसद इसके लिए सक्षम नहीं है और उससे मूल अधिकारों तथा सुधारवादी कारागारों के सिद्धान्त का अतिक्रमण होता है। जिस एक विवाद्यक के परिणामस्वरूप अनेक अधिवक्ताओं ने अपनी-अपनी दलीलें पेश की हैं, वह यह है कि क्या धारा 433-क असांविधानिकता के कारण शून्य है और आनुकल्पिकतः, यह कि क्या उक्त कठोर उपबन्ध का निर्वचन ऐसी उदारता के साथ किया जाना चाहिए जो कि (बन्दियों को) शीघ्र छोड़े जाने से सम्बन्धित क्षेत्र को विस्तृत करता है और 14 वर्ष के कारागार की अवधि के अनिवार्य क्षेत्र को सीमित करता है। लार्ड डेनिंग ने प्रथम हिमलिन लेक्चर्स में तथा सर नारमंड एंडरसन ने उसी सीरीज के अन्तिम से ठीक पहले इस बात पर जोर दिया था[1]—

> "....हमारे न्यायालयों में जो मूल सिद्धान्त है, वह यह है कि जहां व्यक्ति के स्वातंत्र्य और किन्हीं अन्य अधिकारों और हितों के बीच कोई टकराव होता है—वे अन्य चाहे जितने बड़े या शक्तिशाली क्यों न हों, कोई बात नहीं है—अकिंचनतम नागरिक का स्वातंत्र्य अभिभावी होगा।

निस्संदेह अधिकांश पिटीशनर निर्धनतम, निम्नतम वर्ग के तथा ऐसे वर्ग के हैं जिनका सब कुछ लुट चुका होता है। उन लोगों की जो कि स्वतंत्र होने की अपनी तारीख का उदासीनता के साथ उत्सुक हो कर प्रतीक्षा करते रहते हैं, अपने घर वापस जाने की मानवीय आशा उनके जीवन दीप को जलाए रखती है और पूरे 14 वर्ष की कठोरतम कालावधि पूरी होने के पूर्व छोड़े जाने पर जो पूरी पाबंदी लगा दी गई है, वह, भले ही उनके छोड़े जाने की योग्यता कभी भी इतनी पूरी या विश्वसनीय क्यों न रही हो, प्रत्यावर्तन की प्रक्रिया को ही शक्तिहीन बनाती है जो कि दाण्डिक दासता के तर्काधार का आधारभूत है। एक ही कारण से अनिर्धारित दण्डादेशों की आलोचना की गई है, क्योंकि उनके परिणामस्वरूप—

---

[1] अल्फ्रेड कोहन एण्ड राय उडाल्फ, दि क्रिमिनल जस्टिस सिस्टम एण्ड इट्स साइकोलोजी, वान नास्ट्रेंड रेनहोल्ड कम्पनी, न्यूयार्क, पृष्ठ 298-299.

> दण्डादेशन की ऐसी पद्धति अस्तित्व में आई है जिसने अगणित बन्दियों को पर्याप्त रूप से कष्ट और अन्याय दिया है। अनिर्धारित दण्डादेश साधारणतया निर्धारित दण्डादेशों की अपेक्षा अधिक लम्बे और अधिक कष्टदायी होते हैं तथा बन्दियों और उनके कुटुम्ब दोनों, के मत में अतिरिक्त मानसिक तनाव उत्पन्न करते हैं जिन्हें केवल तब आश्चर्य होगा जब कि वे छोड़े जाएंगे[1]।

ओस्कर वाइल्ड ने जो कि ऐसा कवि था जिसे कारागार में डाल दिया गया था, यह लिखा है कि न्यायालयों को उस समय जब कि वे न्यायनिर्णय कर रहे हों, किसी न्यूनतम लम्बी अवधि के मनमानेपन की बात जाननी चाहिए जो कि सामाजिक प्रतिरक्षा के नाम से निष्ठुरता के साथ अधिरोपित की गई हो[2]—

"हम में से प्रत्येक में
कुछ निर्जीव था,
और....
जो निर्जीव था,
वह आशा थी ?
× × × × ×
निकृष्टतम कार्य
विष के अपतृण के सदृश,
कारागार के वायुमंडल में
सुप्रस्फुटित होते हैं :
केवल वही
जो मनुष्य में
अच्छा होता है
नष्ट और शुष्क हो जाता है;
गहन व्यथा
द्वार पर प्रतीक्षारत है,
और प्रहरी
निराशा की प्रतिमूर्ति है।"

---

1 अल्फ्रेड कॉन एण्ड राय उडाल्फ: दि क्रिमिनल जस्टिस सिस्टम एण्ड इट्स साइकोलोजी; वान नास्ट्रैंड रेनहोल्ड कम्पनी, न्यूयार्क, पृष्ठ 298-299.

2 बैलड ऑफ रीडिंग जेल।

ये साधारण सिद्धान्त धारा 433-क की शक्तियों पर चारों ओर से आक्षेप करने के विचार की पृष्ठभूमि के रूप में कार्य मात्र करते हैं। न्यायालय को इसे अच्छी तरह समझने के लिए, हमें इसे भागों में विभाजित करने के पूर्व पूरी तरह से पढ़ना होगा—

"433-क. धारा 432 में किसी बात के होते हुए भी, जहां किसी व्यक्ति को ऐसे अपराध के लिए, जिसके लिए मृत्यु दण्ड विधि द्वारा उपबन्धित दण्डों में से एक है, आजीवन कारावास का दण्डादेश दिया गया है या धारा 433 के अधीन किसी व्यक्ति को दिए गए मृत्यु दण्डादेश का आजीवन कारावास के रूप में लघूकरण किया गया है, वहां ऐसा व्यक्ति कारागार से तब तक नहीं छोड़ा जाएगा जब तक कि उसने चौदह वर्ष का कारावास पूरा न कर लिया हो।"

आंशिक रूप से समझना वैसे ही खतरनाक साबित हो सकता है, जैसे कि अल्पज्ञान का होना। सम्पूर्ण विषयवस्तु पर कौशल प्राप्त करने की दृष्टि से हमें धारा 432 और 433 को भी पढ़ना होगा—

"432. (1) जब किसी व्यक्ति को किसी अपराध के लिए दण्डादेश दिया जाता है, तब समुचित सरकार किसी समय, शर्तों के बिना या ऐसी शर्तों पर जिन्हें दण्डादिष्ट व्यक्ति स्वीकार करके उसके दण्डादेश के निष्पादन का निलंबन या जो दण्डादेश उसे दिया गया है उसका पूरे का या उसके किसी भाग का परिहार कर सकती है।

433. समुचित सरकार दण्डादिष्ट व्यक्ति की सम्मति के बिना—

(क) मृत्यु दण्डादेश का भारतीय दण्ड संहिता द्वारा उपबन्धित किसी अन्य दण्ड के रूप में लघूकरण कर सकती है;

(ख) आजीवन कारावास के दण्डादेश का, चौदह वर्ष से अनधिक अवधि के कारावास में या जुर्माने के रूप में लघूकरण कर सकती है;

(ग) कठिन कारावास के दण्डादेश का किसी ऐसी अवधि के सादा कारावास में, जिसके लिए वह व्यक्ति दण्डादिष्ट किया जा सकता है, या जुर्माने के रूप में लघूकरण कर सकती है;

(घ) सादा कारावास के दण्डादेश का जुर्माने के रूप में लघूकरण कर सकती है।"

4. ऊपर उद्धृत की गई धाराएं दण्डादेशों के परिहार और लघूकरण से सम्बन्धित हैं। पहले वाली संहिता में धारा 432 और 433 के तत्सम्बन्धी समरूप उपबन्ध (1898 वाली संहिता की धारा 401 और 402) थे, किन्तु धारा 433-क पूर्णतः नई है। 'बस कठिनाई यही है'। यह बात स्पष्ट है कि धारा 432 समुचित सरकार को किसी दण्डादेश का पूर्णतः या भागतः परिहार करने की शक्ति प्रदत्त करती है। इस शक्ति का प्रयोग करने की प्रक्रिया और वे शर्तें जिनके अध्यधीन उस शक्ति का प्रयोग करना होता है, इस धारा में भी दी गई हैं। यह एक विस्तृत शक्ति है। इसका विस्तार, धारा 433-क के न रहने पर, सम्पूर्ण आजीवन दण्डादेश के परिहार पर उस दशा में होता है, यदि सरकार ऐसा करना चाहे। धारा 433 (क) के अधीन परिहार करने की शक्ति के उदारतापूर्ण या अविवेकपूर्ण उपयोग से यह अभिप्रेत हो सकता है कि ऐसे बहुत से हत्यारे या अन्य अपराधी जिन्हें न्यायालय द्वारा मृत्यु का दण्डादेश दिया जा सकता था, किन्तु जिन्हें केवल आजीवन दण्डादेश वस्तुतः दिया गया है, ठीक अगले दिन प्रातःकाल, ठीक अगले वर्ष, एक दशाब्दी के बाद या किसी ऐसे समय पर जब कि समुचित सरकार उसके दण्डादेश का परिहार करने की मानसिक मुद्रा में हो, विधिक रूप से छुटकारा पा सकते हैं। हमारे ध्यान में इन परिहारों की विलक्षण सनकें लाई गई हैं—जैसे कि उदाहरणार्थ, कारागार में सरकारी निरीक्षण के समय गृह मंत्री की पवित्र उपस्थिति का असंगत संयोग जिसके परिणामस्वरूप दण्डादेशों का परिहार किया गया हो; इस विचार मात्र से हम कांप उठते हैं कि उन व्यक्तियों ने जिन्हें थोड़े समय के लिए प्राधिकार प्राप्त होता है, व्यवहार में उच्च सांविधानिक शक्तियों का भी अवमूल्यन कर दिया है और उसके कारण इस गलत धारणा को बल मिलता है कि हमारे गणतंत्र के कृत्यकर्ता मध्यकालीन युग के अर्धमहाराजा के पुनरावतार हैं। हम संविधान के अनुच्छेद 161 के अधीन उसके सम्बन्ध में कुछ बाद में चलकर विचार व्यक्त करेंगे, किन्तु यहां पर यह साबित करने के लिए उसका उल्लेख करना चाहते हैं कि धारा 433-क को अधिनियमित करने के लिए किस बात ने संसद् को प्रेरित किया था। हमें यह बात बताई गई है कि अनेक राज्यों में इन दोनों दूषित प्रवर्गों के भीतर आने वाले आजीवन बन्दी प्रचलित नियमों के अधीन परिहार प्राप्त करते थे, जिसके परिणामस्वरूप वे कुछ वर्षों में ही छूट जाते थे। दण्ड के सम्बन्ध में संसद् की जो भी भावना थी, उस पर आजीवन दण्डादेशों के ऐसे अति लघूकरण के परिणामस्वरूप स्पष्टतः वहां आघात लगा था, जहां कि अपराध इतना गम्भीर था कि जिसके लिए मृत्यु की शास्ति भी दी जा सकती थी। वही स्थिति उन

व्यक्तियों के सम्बन्ध में भी बनी हुई थी, जिन्हें वास्तव में मृत्यु की शास्ति दी गई थी, किन्तु जिन्हें धारा 433(क) के कारण आजीवन कारावास का लघूकृत दण्डादेश दिया गया था। इन दो गम्भीरतर वर्गों के मामले में दण्ड सम्बन्धी ऐसी अधिक लापरवाही का संज्ञान करते हुए, संयुक्त समिति ने, जिसने भारतीय दण्ड संहिता (संशोधन) विधेयक का अध्ययन किया था, यह सुझाव दिया कि दोनों प्रकार के आजीवन बन्दियों को पर्याप्त रूप से न्यूनतम लम्बा दण्डादेश भुगतना चाहिए। यह क्रूर उपबन्ध (जैसा कि कुछ काउन्सेलों ने इसके सम्बन्ध में बताया है) दण्ड संहिता की धारा 57 में एक परन्तुक जोड़ने सम्बन्धी संयुक्त समिति के प्रस्ताव का परिणाम था। उसका समुचित स्थान प्रक्रिया संहिता में था और इसीलिए धारा 433-क तब अधिनियमित की गई जब कि दण्ड प्रक्रिया संहिता का संशोधन किया गया। यह संसद् के मापदण्ड के अनुसार ऐसा दाण्डिक विधान था जिसके अधीन आजीवन बन्दी को चौदह वर्ष का वास्तविक कारावास भुगतने के पहले छोड़ने की बात को प्रतिषिद्ध कर दिया गया। जहां तक हमारा ध्यान आकृष्ट किया गया, संसद् (छठी लोक सभा) में इस खण्ड का कोई भी विरोध नहीं किया गया, यद्यपि मौखिक रूप से, वह (1978) मानव-अधिकारों का बोलबाला होने का काल था।

5. उद्देश्य और कारणों (का कथन) यह स्पष्ट करता है कि यह नवीन उपबन्ध क्यों अधिनियमित किया गया था—

> "दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 पहली अप्रैल, 1974 को प्रवृत्त हुई। नवीन संहिता के कार्यकरण पर सावधानी के साथ निगरानी रखी गयी है और अनुभव के आधार पर कतिपय कठिनाइयां और सन्देह दूर करने के लिए कुछ तब्दीलियां करना आवश्यक पाया गया है। खण्डों के सम्बन्ध में जो टिप्पण दिए गए हैं, उनमें संशोधन करने के कारण संक्षेप में दिए गए हैं।"

इन खण्डों के सम्बन्ध में जो टिप्पण हैं, उनमें और आगे यह स्पष्ट किया गया है—

> "खण्ड 33 : धारा 432 में ऐसा उपबन्ध अन्तर्विष्ट है जो कि दण्डादेश को निलम्बित करने या परिहार करने विषयक समुचित सरकार की शक्तियों से सम्बन्धित है। भारतीय दण्ड संहिता (संशोधन) विधेयक, 1972 के सम्बन्ध में जो संयुक्त समिति बनी थी, उसने भारतीय दण्ड संहिता की धारा 57 में इस प्रभाव का परन्तुक अन्तःस्थापित करने का सुझाव दिया था कि ऐसे व्यक्ति को जिसे

1980(11) eILR(PAT) SC 122

मृत्यु का दण्डादेश दिया गया है और जिसके मृत्यु के दण्डादेश को लघूकृत करके आजीवन कारावास में परिवर्तित कर दिया गया है और ऐसे व्यक्तियों को जिन्हें मृत्यु-दण्ड-भोग्य अपराध के लिए आजीवन कारावास से दण्डादिष्ट किया गया है, कारागार में चौदह वर्ष का वास्तविक कारावास भुगतना चाहिए; चूंकि यह विशिष्ट मामला दण्ड प्रक्रिया संहिता से अधिक समुचित रूप से सम्बन्धित है, इसलिए संयुक्त समिति द्वारा अन्तःस्थापित परन्तुक को इसके अन्तर्गत लाने के लिए नई धारा अन्तःस्थापित की जा रही है।"

अब हम दण्ड संहिता की धारा 57 के सम्बन्ध में संयुक्त समिति की सिफारिश पर विचार करेंगे जिससे खण्ड 33 अधिनियमित करने की प्रेरणा मिली थी। हम पूर्णता की दृष्टि से उस सिफारिश को यहां उद्धृत कर सकते हैं—

"जैसी कि संहिता की धारा 57 संशोधन किए जाने के लिए प्रस्थापित की गई थी, उसमें यह उपबन्धित था कि दण्ड की अवधियों के भिन्नों की गणना करने में आजीवन कारावास की गणना बीस वर्ष के कठिन कारावास के समतुल्य किया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में समिति का ध्यान इस पहलू की ओर आकृष्ट किया गया कि कभी-कभी परिहार अनुदत्त किए जाने के कारण ऐसे हत्यारे भी जो आजीवन कारावास से दण्डादिष्ट किए गए थे या जिनका दण्डादेश लघूकृत करके आजीवन कारावास में परिवर्तित कर दिया गया था, पांच से छह वर्ष के अन्त तक छोड़ दिए गए थे। समिति यह महसूस करती है कि ऐसे सिद्धदोष को तब तक नहीं छोड़ा जाना चाहिए जब तक कि उसने कम से कम चौदह वर्ष का कारावास भुगत न लिया हो।"

6. संक्षेप में, दंड संहिता के संशोधनों से सम्बन्धित संसदीय समिति अत्यधिक लघूकरणों और परिहारों के परिणामस्वरूप गम्भीर रूप से चिंतित हो गई थी जिनके परिणामस्वरूप मृत्युदण्ड-भोग्य अपराधों के कारण आजीवन दण्डादेशतियों को समय से पूर्व छोड़ दिया जाता था। यह प्रस्ताव खण्ड 33 में दण्ड प्रक्रिया संहिता (संशोधन) विधेयक में स्थानान्तरित किया गया था और उसके परिणामस्वरूप धारा 433-क अधिनियमित की गई। इसके सम्बन्ध में संसद् ने मानव अधिकार से सम्बन्धित आंसू किसी ने भी नहीं बहाया, यद्यपि हमारे समक्ष मानव अधिकारों के नाम से अनेक काउन्सेलों ने वास्तव में अपनी वाक्पटुता, बल्कि अपना अत्यधिक क्रोध भी दिखाया है। निश्चित

रूप से संसदीय वाक्कृपणता न्यायालय को विधायी सक्षमता की परीक्षा करने से प्रवारित नहीं करती। और न ही वह इस न्यायालय को, अधिकारों के रक्षक के रूप में, विधायी अधिक्रमण के विरुद्ध मूल अधिकारों की रक्षा करने से उस दशा में रोकती है, यदि स्पष्ट रूप से यह बात साबित कर दिया जाए कि उनका घोर अतिक्रमण किया गया है।

7. हमें धारा 432 और 433 के विधायी इतिहास की जांच करनी है और संविधान के अनुच्छेद 72 और 161 की पृष्ठभूमि का अध्ययन करना है। किन्तु हम इस पर समुचित प्रक्रम में विचार करेंगे। और आगे बढ़ने से पूर्व हम उन दलीलों को संक्षेप में बता सकते हैं जिन पर लगातार काउन्सेलों ने जोर दिया है। मुख्य चुनौती इस बात पर आधारित है कि धारा 433-क के अधिनियमित किए जाने के कारण अनुच्छेद 72 और 161 का अभिकथित अतिक्रमण हुआ है। सर्वश्री नन्द लाल, आर० के० गर्ग, मृदुल, तारकुण्डे और डॉ० सिघवी ने, अन्य लोगों के बीच, बारम्बार ज़ोर देकर तथा दैहिक स्वाधीनता के लिए अपनी भावनाओं के साथ इस मुद्दे के सम्बन्ध में दलील दी है। विधिज्ञ-वर्ग दुर्ग की दीवार के समान है। वस्तुतः, श्री गर्ग को इस बात से बहुत बड़ा 'धक्का' लगा कि हम लोगों को ऐसे लम्बे कारावास के परिणाम-स्वरूप 'धक्का' नहीं लगा था, क्योंकि उसे हत्या के दोषी आजीवन-बन्दी के छोड़े जाने की कानूनी शर्त बनाया जा रहा था और वह इस हल्के से सुझाव पर भी बहुत ही चकित रह गया है कि राष्ट्रपति या राज्यपाल धारा 433-क में व्यक्त संसदीय रीति से अन्य बातों के साथ-साथ मार्गदर्शन प्राप्त करके लघूकरण सम्बन्धी अपनी शक्ति का प्रयोग कर सकते हैं। श्री तारकुण्डे ने इसके आगे जो दूसरी दलील विश्वासोत्पादक बल के साथ दी थी, वह यह थी कि धारा 433-क से अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण होता है, क्योंकि वह पूर्णतः मनमानी और अयुक्तिसंगत है। श्री मृदुल ने, अपनी बात मनवाने के लिए, इस बात पर ज़ोर दिया कि धारा 433-क में सूचियों के अधीन विधायी सक्षमता की कमी है और उसे संविधान के अनुच्छेद 20(1) का उल्लंघन करने के अतिरिक्त कारण से अभिखण्डित कर दिया जाना चाहिए और श्री कक्कड़ ने अमरीका के प्रमाणिक ग्रन्थों से अपने अभिवाक् का समर्थन करते हुए अपना अलग ही योगदान किया, जो कि अन्य काउन्सेलों द्वारा पहले प्रस्तुत दलीलों के समर्थन के अलावा था। उसकी दलील में जिस बात पर मुख्य रूप से ज़ोर दिया गया था, और जो कि कटुतापूर्ण, किन्तु प्रभावोत्पादक थी, वह यह थी कि कारागार-नियमों तथा अन्य विधानों के अधीन परिहार के लिए जो विभिन्न उपबन्ध किए गए थे, वे धारा 433-क के होते हुए भी, प्रक्रिया संहिता की

धारा 5 में व्यावृत्ति विषयक उपबन्ध के कारण पूरी तरह प्रवर्तनीय थे ।

8. डॉ० सिंघवी ने, जो कि सबसे बाद में किन्तु विलम्ब से उपस्थित हुए थे, भारतीय दण्ड संहिता की धारा 302 के संशोधन के निष्फल इतिहास के प्रति और धारा 433-क के अधिनियमित करने की कथा के सम्बन्ध में उसके मूल पाठ को पढ़ने की आवश्यकता के प्रति निर्देश करके उन लोगों की जो कि उनके पहले ही दलीलें पेश कर चुके थे, दलीलों का समर्थन विद्वत्तापूर्ण ढंग से किया । विधायी परिवर्तनों के अलावा जिनकी रोशनी में वे यह चाहते थे कि हम धारा 433-क का निर्वचन सीमित रूप से करें, डॉ० सिंघवी ने आयरलैण्ड के संविधान के उपबन्धों की और मानव अधिकारों के अन्तर्राष्ट्रीय मानकों की व्याख्या हमारे समक्ष की और हमारे समक्ष यह इच्छा प्रकट की कि हम संविधान के अनुच्छेद 72 और 161 के अधीन उच्च परमाधिकार की शक्तियों के प्रयोग के लिए कम से कम परिहार सम्बन्धी नियमों को निदेशक तत्वों के रूप में प्रभावी करें । अन्य लोगों ने, जो कि अनेक रिट पिटीशनों में उपस्थित हुए थे, बहुत सी ऐसी सबल अनुपूरक दलीलें पेश कीं, यद्यपि उनमें विधिक बल की कमी थी, जिनमें से कुछ के प्रति हम सरसरी तौर पर निर्देश करेंगे । आजीवन-बन्दियों में से एक ने जो कि वृत्त की दृष्टि से अधिवक्ता रहा है, व्यक्तिगत रूप से उपस्थित हुआ है और निर्वचन करते हुए संक्षेप में अपनी दलीलें पेश कीं जिनका हमारे मन पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ा है ।

9. भारत संघ ने जिसका प्रतिनिधित्व विद्वान् सालिसिटर जनरल ने किया था, उन कमजोरियों का प्रतिवाद किया है जिनकी बाबत यह अभिकथित किया गया है कि वे धारा 433-क में मौजूद हैं । हमें श्रेयस्कर रूप से यह उल्लेख करना चाहिए कि उसने इतनी निश्चितार्थता के साथ जो कि मानने योग्य हो, न्यायशास्त्रीय बरीकी से, निर्णयज विधि के पाण्डित्य के साथ और उचित रियायत के साथ एक-एक मुद्दे का बहुत ही कड़ाई से उत्तर दिया । उसकी दलीलों से हमें इस बात की सहायता मिली है कि हम उन मुद्दों को सही दृष्टिकोण से देख सकें और किन्हीं दिखावापूर्ण बातों और आडम्बरों से विचलित हुए बिना मूल बातों पर अपना ध्यान आकृष्ट करें ।

10. अत्यधिक अतिव्यापन हुआ है जो कि अनेक मौखिक दलीलों में आवश्यक बात होती है, किन्तु प्रत्यक्षतः छोटे से मुद्दे के सम्बन्ध में दी गई दलीलों की प्रभावोत्पादक व्यूहरचना से न्यायालयीन जगत की विस्तृत शक्तियों को श्रेय नहीं मिलता, बल्कि उससे उस समय निराशा उत्पन्न हो जाती है जब कि हम न्याय की जोरदार मांग करने वाली सम्पूर्ण मुकदमेबाजी का ध्यान रखते हुए न्यायालय में पूर्ण अव्यवस्था की परिकल्पना करते हैं । यदि न्यायालय

1980(11) eILR(PAT) SC 122

की कार्यप्रणाली को इस चुनौती का सामना करके कायम रहना है कि 'अस्तित्व या तो अस्तित्व रहेगा या नहीं रहेगा', तो नवीन अस्थायी व्यवस्था उतनी ही आज्ञापक है जितनी कि अत्यावश्यक।

11. प्रारम्भिक मत व्यक्त करने की आवश्यकता है, क्योंकि मानव अधिकारों को कायम रखने सम्बन्धी इस न्यायालय के कर्तव्य के सम्बन्ध में दलील दी गई है। पिटीशनरों के काउन्सेलों ने जो कि इस समय बन्दियों के सुधार विषयक स्वातंत्र्य का नारा ठीक तौर से ही बुलन्द कर रहे हैं, हमारे समक्ष यह दर्शित नहीं किया है कि चतुर्थ सम्पदा अर्थात्, प्रैस ने या संसद् के किसी सदस्य या दल ने या उसके बाहर परिहार सम्बन्धी नियमों को अस्वीकृत करने वाले अभिकथित रूप से अनिष्टकारी इस उपबन्ध की तथा दण्डादेशों को लघूकृत करने के लिए बनाए गए विधानों की कोई आलोचना की थी, भले ही मानव अधिकारों से सम्बन्धित नारा कितना ही बुलन्द क्यों न रहा हो। स्वाधीनता के बारे में न्यायाधीश लर्नेड हैण्ड की प्रसिद्ध चेतावनी लोगों के दिलों में मौजूद है और वह हमारे मन में भी आ रही है। न्यायालय का नम्बर अन्त में आता है, तो फिर जिसका नम्बर पहले आता है, वह कहां है?

12. स्वाधीनता सम्बन्धी विवाद्य, मुद्दे अच्छी राजनीति है और उन लोगों को, जो कि मानव अधिकारों के प्रति वचनबद्ध हैं, ऐसे बेचारे बन्दियों का अवश्य ही समर्थन करना चाहिए, जिनके पास न तो कोई मत होते हैं और न ही कोई आवाज होती है और कदाचित उनकी उपेक्षा वे लोग कर सकते हैं, जो कि मानव अधिकारों का नारा बुलन्द करते हुए निर्वाचनों में विजय प्राप्त करने की अकांक्षा रखते हैं। यह कुछ अजीब है कि जब प्रैस या संसद् ने कोई विसम्मति प्रकट नहीं की है और विधान बड़ी सरलता के साथ पारित हो गया है, तो न्यायिक शक्ति की कृत्य सम्बन्धी परिसीमाओं को भुलाकर, स्थायी विधान के अधीन निरुद्ध बन्दियों को छोड़ने की मांग, अन्तिम शरण-स्थल के रूप में, न्यायालय में सभी ओर से की जाए।

13. फिर भी हम उन दलीलों सहित, जो कि मूल स्वातंत्र्यों पर आधारित हैं, उनके सम्पूर्ण क्षेत्र को अपने विचार की परिधि में लेंगे, क्योंकि न्यायालय अपनी सांविधानिक बाध्यताओं का त्याग उस दशा में भी नहीं कर सकते यदि संसद् संवेदनशून्य हो और राजनीतिज्ञ अन्यमनस्क हों (सादर हम यह कहना चाहेंगे कि साधारण तौर से वे ऐसा नहीं होते हैं) वस्तुतः, हमें संविधान और देश के प्रति अपने उत्तरदायित्व के कारण और आगे जाना चाहिए और यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि जहां सांविधानिक स्वाधीनताओं को खतरा

1980(11) ILR(PAT) SC 122

उत्पन्न हो सकता है, वहां न्यायाधीश तटस्थ नहीं रह सकता। किन्तु हमें काउन्सेल को यह स्मरण कराना चाहिए कि जहां सांविधानिक गलत दावों पर न्यायालयीन व्यग्रता के साथ जोर दिया जाता है, वहां वह न्यायालय हड़बड़ी में पड़कर कोई काम करने की सम्मति देकर उनकी बात नहीं मानते। न्याय अधिक कठोर पदार्थ का बना होता है, यद्यपि उसका मर्म वैसे ही होता है जैसे कि आकाश से धीमे-धीमे वर्षा हो रही हो, क्योंकि उसके साथ दया अन्तर्ग्रथित होती है। अब हम मुख्य दलीलों पर विचार करेंगे और तर्कसंगत रूप से हमें कारागार में निरोध की न्यूनतम कालावधि अधिनियमित करने सम्बन्धी संसद् की विधायी सक्षमता के प्रश्न का निपटारा करना चाहिए।

14. हम किसी खतरे के बिना यह मान सकते हैं कि यदि धारा 433-क का वर्जन विद्यमान न होता, तो परिहार के नियमों तथा सभी सम्भावनाओं के बीच दण्ड को लघूकृत करने से सम्बन्धित विधानों के परिणामस्वरूप सरकार हमारे समक्ष वाले हजारों पिटीशनरों को छोड़ने का आदेश दे देती। इस प्रकार यह विनिश्चित करना बहुत ही महत्व की बात है कि क्या संसद् को आक्षेपित उपबन्ध अधिनियमित करने की कोई भी विधायी सक्षमता प्राप्त नहीं है।

15. हम सक्षमता सम्बन्धी दलील को अमहत्वपूर्ण मानकर रद्द करते हैं। यह घिसी-पिटी विधि है कि सप्तम् अनुसूची की सूचियों में विधान की मुख्य-मुख्य बातें मोटे तौर से वर्णित की गई हैं और उनका निर्वचन उदारता के साथ किया जाना चाहिए। अनुच्छेद 246(2) संसद् को यह शक्ति देता है कि वह सूची में प्रगणित विषयों में से किसी के भी सम्बन्ध में विधियां बना सकेगी। सूची 3 में की प्रविष्टि 1 और 2 (विशिष्टतः प्रविष्टि 2) इतनी अधिक व्यापक है कि उनकी परिधि के भीतर ऐसा विधान आ जाता है जैसा कि धारा 433-क में अन्तर्विष्ट है, जो कि धारा 432 और 433-क की मात्र उपरिका(राइडर), जैसी कि वह है, अधिनियमित करती है। हम यह अर्थ नहीं निकाल सकते कि वह 'कारागार और बन्दी' के विषय पर बनाया गया विधान है। दूसरी ओर, इसमें दण्ड संहिता द्वारा उपबन्धित दण्ड के निष्पादन की निचली सीमा निर्धारित की गई है और समुचित रूप से प्रक्रिया संहिता में निष्पादन और दण्डादेश से सम्बन्धित अध्याय में उसे स्थान दिया गया है। यदि हम इस निश्चित स्थिति को स्वीकार कर लेते हैं कि दण्डादेशों का निष्पादन परिहार और लघूकरण जैसा कि पहले वाली संहिता (दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1898) में था, मुख्यतः, वर्तमान प्रक्रिया संहिता (अध्याय 32) के भीतर आता है, तो हम धारा 433-क को सूची 3 की प्रविष्टि 2 को ऐसे

सजातीय उपबन्ध के रूप में सही तौर से समनुदिष्ट कर सकते हैं जो कि परिहार और लघूकरण के लिए महत्वपूर्ण हो, क्योंकि उसमें पूर्ववर्ती दोनों धाराओं द्वारा प्रवृत्त शक्ति की सीमाएं निर्धारित की गई हैं। पहले वाले विधान के परन्तुक के रूप में इस सीमित अभिनिषिद्ध का सम्बन्ध दण्डादेश के निष्पादन से, न कि कारागार की दशाओं से या बन्दी के जीवन के विनियमन से है। एक ओर कारागारों और बन्दियों के बीच तथा दूसरी ओर दण्डादेशों और उनके निष्पादन, परिहार और लघूकरण के बीच जो प्रभेद है, वह बारीक किन्तु वास्तविक है, धारा 433-क को यह कहकर खोटा बताना कि वह सूची 3 की प्रविष्टि 2 की सक्षमता के बाहर है, विधायी सूचियों के सांविधानिक निर्वचन के सभी सिद्धान्तों का उल्लंघन करना है। संसद् को सक्षमता प्राप्त है।

16. थोड़ी देर के लिए हम यह मान सकते हैं कि परिहार और लघूकृत दण्डादेशों से सम्बन्धित विधियां सूची 2 की प्रविष्टि 4 के अधीन अधिनियमित की गई हैं। उस स्थिति में अधिनियमित करने सम्बन्धी राज्यों की सक्षमता को चुनौती नहीं दी जा सकती। जो कुछ भी हो, कारागार-बन्दी से सम्बन्धित विधान में भी, कभी कड़ाई करके कभी नर्मी करके कारागार में रहने की शक्यता में वृद्धि करने के लिए और कारागार के अधिकारी और बन्दी के बीच विरोध को कम करने के लिए लाभदायक उपबन्ध हो सकता है। परिहार करने का प्रस्ताव, क्रोध पर्यवेक्षित निर्मुक्तियां, कुटुम्ब से सम्पर्क करवाकर आत्म-सुधार के लिए अवसर देना, सामुदायिक संकर्म केन्द्रों में और अध्ययन केन्द्रों में भी समय देना उचित रूप से कारागार विषयक विधान से सम्बन्धित हो सकते हैं। परिहार करके इनाम देना, जैसे कि एकान्त में रखकर दण्ड देना, सूची 2 की प्रविष्टि 4 के अधीन अनुज्ञेय है। वास्तव में पुनर्वास विषयक कारागार सम्बन्धी प्रगतिशील जैसी विधियां जिनका लक्ष्य गतिशील, शोधनोन्मुख और सुधारवादी होता है और जिनके अन्तर्गत सार्थक उपशमन और मानवीय परिहार हैं, अपूर्ण विधानों की भारतीय सूची में हैं। भविष्य में किए जाने वाले तर्कसंगत अभ्युपायों के अलावा, हमारे यहां वर्तमान केन्द्रीय विधि अर्थात् कारागार अधिनियम, 1894 मौजूद है जो कि अपनी धारा 59(27) में अभिव्यक्त रूप से समय-पूर्व छोड़ने से सम्बन्धित नियमों की मंजूरी देता है। फिर भी राज्य की शक्ति अनुच्छेद 246(1) और (2) के अध्यधीन है और इसी कारण से संसदीय विधान राज्य के विधान पर अभिभावी होता है। इसके अलावा, अनुच्छेद 254 इस टकराव का निपटारा संसदीय विधान के पक्ष में करता है। यदि राज्य का आशय सूची 3 की प्रविष्टि 2 के अधीन विधान बनाना है, तो ऐसी विधि राज्य में

संसदीय विधान के विरुद्ध केवल तभी अभिभावी हो सकती है, यदि अनुच्छेद 254 (2) के उपबन्धों के अनुसार राष्ट्रपति की अनुमति उसे प्राप्त हो गई है। प्रस्तुत मामले में कोई भी सन्देह नहीं है कि धारा 433-क 'कारागार और बन्दी' से सम्बन्धित किसी राज्य विधान पर उस दशा में भी अभिभावी होगी, यदि उसका उपबन्ध केन्द्रीय विधि के विरुद्ध है। हम परिहार सम्बन्धी स्कीम का अर्थ विपर्यस्त दण्डादेशों के रूप में न करके, कारागार में अच्छे आचरण के लिए इनामों तथा परिहारों के लिए उपबन्ध मात्र के रूप में तथा तत्प्रकार की बातों के रूप में कर सकते हैं। यदि दण्डादेश आजीवन कारावास है, तो परिहारों से उस रूप में, सहायता नहीं मिल सकती, जैसा कि गोडसे[1] वाले मामले में अधिकथित किया गया है। यदि दण्डादेश नियत अवधि के लिए है, तो परिहारों से, उस रूप में, सहायता मिल सकती है, किन्तु धारा 433-क उसमें बाधक नहीं हो सकती। इस प्रकार धारा 433-क और परिहार सम्बन्धी उपबन्धों के बीच कोई भी असंगति नहीं है।

17. काउन्सेल ने इस असंदिग्ध सांविधानिक स्थिति के कारण धारा 433-क में सर्वोपरि खण्ड की सीमित प्रकृति और स्वयं प्रक्रिया संहिता की धारा 5 के व्यावृत्ति विषयक उपबन्ध का सहारा लिया। दलील यह थी कि धारा 433-क परिहार सम्बन्धी नियमों और दण्डादेशों को लघूकृत करने विषयक विधानों के लिए पूरी स्वतंत्रता देती है। सर्वोपरि खण्ड की सीमित परिधि इस दलील का आधार थी। वह धारा 432 के प्रवर्तन को ही अपवर्जित करती है और तद्द्वारा तथ्य के आधार पर विभिन्न राज्यों द्वारा बनाए गए परिहार सम्बन्धी नियमों की प्रवर्तन विषयक विद्यमानता विवक्षित रूप से स्वीकार कर ली गई। यह दलील बिल्कुल ही तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि वह मूल पाठ के आदेश से मेल नहीं खाती और वस्तुतः उस धारा के आदेशात्मक भाग को प्रभावहीन बनाती है।

18. निर्वचन के क्षेत्र में, काउन्सेल का अध्यवसाय और कौशल किसी भी अर्थान्वयन को समर्थन दे सकता है, चाहे वह अर्थ सम्बन्धी आधिक्य हो, जरूरत से ज्यादा निर्णयज-विधियों को उद्धृत करना हो या किसी भी स्थिति को समर्थन देने के लिए अनेक सिद्धान्तों को पेश करना हो। ज्यादा अच्छा होता कि हम कानून के ऐसे स्पष्ट प्रयोजन और सुस्पष्ट अर्थ तक ही अपने को सीमित रखते जो कि पाण्डित्यपूर्ण अनुकल्पों की ओर मुड़ने से पूर्व अर्थ विषयक अनुसूची की ओर संकेत करता है। ओलिवर वैण्डेल होम्स ने बुद्धि-

[1] [1961] 3 एस० सी० आर० 440.

मानी के साथ यह मत व्यक्त किया है : "सुस्पष्ट बात की व्याख्या करने की अपेक्षा सुस्पष्ट बात पर जोर देना कभी-कभी अधिक महत्वपूर्ण होता है।" दूसरी विद्वत्तापूर्ण सीख फ्रेंकफर्टर की तीन सलाह है (1)—

(1) कानून को पढ़ो; (2) कानून को पढ़ो; (3) कानून को पढ़ो।

19. यदि हम धारा 433-क को पढ़ें और जो बात स्पष्ट है उस पर जोर दें, तो सार्थक और निरर्थक के बीच विभाजक रेखा का पता सरलता के साथ चल जाता है। यदि इन खण्डों अर्थात् (धारा 432, 433 और 433-क) के समूह को साथ-साथ पढ़ा जाए, तो उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जहां संहिता दण्डादेशों के परिहार और लघूकरण की विस्तृत शक्तियां प्रदत्त करती है, वहीं उसका आशय ऐसी कार्यपालक शक्तियों के विस्तृत क्षेत्र में से आत्यंतिक प्रवर्ग को बहुत जोर देकर ग्रहण करना है। सर्वोपरि खण्ड, जैसा कि वह है, धारा 432 को अपवर्जित करता है और शेष धारा का सम्पूर्ण आदेश, धारा 433(क) के प्रवर्तन पर निश्चित रूप से गम्भीर निर्बन्धन लगा देता है। यह प्रतिबन्ध इस बात का निदेश देता है कि ऐसे मामलों में लघूकरण के परिणामस्वरूप कारावास की वास्तविक अस्तित्वावधि चौदह वर्ष के नीचे नहीं की जाएगी। यह कि क्या उस धारा में कोई घातक सांविधानिक कमज़ोरी मौजूद है, यह दूसरा विषय है, किन्तु वह इस अत्यावश्यक आशय को ज़ोरदार ढंग से घोषित करती है कि उन लोगों को जो कि धारा 433-क के प्रभावी भाग में बताए गए दूषित प्रवर्गों के भीतर आते हैं, कम से कम चौदह वर्ष तक कारावास में रखा जाए। दलील यह है कि सर्वोपरि खण्ड की परिधि के भीतर केवल धारा 432 आती है और सामान्य शब्दावली 'या प्रवृत्त कोई अन्य विधि' का विशिष्टतः लोप करती है और इसी कारण से, विधि के ऐसे अन्य उपबन्ध जो कि कारावास की अवधि को कम करते हैं, या उसका परिहार करते हैं, धारा 433-क पर अभिभावी होते हैं। विशिष्टतः, कारागार सम्बन्धी नियम और दण्डादेश को कम करने से सम्बन्धित स्थानीय विधियां, धारा 433-क के आदेश के बावजूद, सभी आजीवन बन्दियों के कारावास की अवधि को कम करेंगी। क्यों ?—क्योंकि सर्वोपरि खण्ड की प्रकृति सीमित है और वह धारा 432 को भी अपवर्जित करता है। कारागार अधिनियम, 1894 ऐसी विद्यमान विधि है जिसको अनुच्छेद 366(10) और अनुच्छेद 372(1) की संरक्षा प्राप्त है। उस अधिनियम की धारा 59 राज्यों

[1] एच० फ्रेंडली, बेंसमार्क 202 (1967).

में नियम बनाने की शक्ति निहित करती है। धारा 59(5), विनिर्दिष्टतया, "अंक देने और दण्डादेशों को कम करने" को विनियमित करने वाले नियमों के प्रति निर्देश करती है। अतः, स्पष्टतः, राज्यों को परिहार—पद्धतियों के विषय में नियम बनाने की शक्ति प्राप्त है और बहुत दिनों से अनेक राज्यों ने ऐसे नियम बनाए हैं और उन्हें कार्यान्वित किया है। वे शक्त्याधीन हैं, क्योंकि परिहारों और इनामों से सम्बन्धित नवीन विधान भी सूची 2 की प्रविष्टि 4 के अधीन वैध होते हैं। इन सामयिक स्कीमों से संविधान की अधिनियमिति समाप्त नहीं हो जाती। किन्तु यदि प्रक्रिया संहिता जैसी केन्द्रीय विधि से उनका टकराव हो जाता है या वे उसके विरुद्ध हो जाते हैं, तो वे भागतः प्रभावहीन हो जाती हैं। यदि धारा 433-क, मात्र विरुद्ध होने के कारण कतिपय वर्गों के आजीवन बन्दियों के विषय में कारागार में परिहार करने से सम्बन्धित राज्य की विधियों को स्थायी रूप से निष्प्रभाव कर देती है, तो पूर्वकथित, असंगति की स्थिति में, अवश्य ही अभिभावी होगी। यह मानते हुए कि कारागार अधिनियम के अधीन बनाए गए नियम विधिमान्य हैं और राज्य की विधि के रूप में उन्हें रद्द नहीं किया जा सकता, धारा 433-क और कारागार सम्बन्धी नियमों को सामंजस्यपूर्ण रूप में पढ़ने से रास्ता निकल आएगा। अन्यथा, बाद वाली विधि को अवश्य ही अभिभावी होना चाहिए या उससे यह निष्कर्ष निकाला जाना चाहिए कि वह विवक्षित रूप में निरसित कर दी गई है। हमें यहां पर इन शाखा विभाजनों की व्याख्या करने के लिए विवश नहीं किया जा सकता, क्योंकि धारा 433-क के साथ परिहार सम्बन्धी नियमों का किसी टकराव के बिना सह अस्तित्व हो सकता है, यदि हम गोडसे[1] और रामा[2] वाले मामलों के विनिश्चयाधार को समझ लें।

20. हम काउन्सेल से इस बात पर सहमत नहीं हैं कि सर्वोपरि उपखण्ड विवक्षित रूप से कायम रहता है। यह बात प्रारम्भिक ज्ञान की है कि सर्वोपरि खण्ड मुख्य कानून को निर्बन्धित नहीं कर सकता (समरूप विचार के लिए रीड डिकरसन लिखित "दि इण्टरप्रेटेशन एण्ड एप्लीकेशन आफ स्टेट्यूट्स के पृष्ठ 10 पर देखिए)। 1952 में अश्विनी कुमार घोष और एक अन्य बनाम अरविन्द बोस और एक अन्य[3] वाले मामले में इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि सर्वोपरि खण्ड (कानून के) मुख्य भाग के विस्तृत अभि-

---

[1] [1961] 3 एस० सी० आर० 440.

[2] [1961] 2 एस० सी० आर० 133.

[3] [1953] एस० सी० आर० 1.

1980(11) eILR(PAT) SC 122

प्राय की कांट-छांट नहीं कर सकता। अधिनियमन भाग स्पष्ट है और सर्वोपरि खण्ड उसकी परिधि को सीमित नहीं कर सकता।

21. विद्वान सालीसिटर जनरल ने यह मत व्यक्त करते हुए अपने निष्कर्ष को अधिक बल प्रदान किया कि, जैसा कि खण्डों से सम्बन्धित टिप्पणों से पता चलता था, धारा 433-क का सम्पूर्ण कार्य और उद्देश्य कारागार के परिहारों के प्रभाव को समाप्त करना था। इसके परिणामस्वरूप गम्भीरतर आजीवन बन्दियों को असम्यक् रूप से शीघ्र छोड़ दिया जाता था। संसद् को इस बुराई का पता था, उसके समक्ष राज्य की परिहार सम्बन्धी पद्धतियां थीं, और उसने आदेशात्मक भाषा का उपयोग करके कतिपय प्रवर्ग के मामलों में उनके प्रभाव को अकृत करना चाहा था। धारा 433-क का इस प्रकार अर्थान्वयन करने से जिससे कि राज्य के परिहार सम्बन्धी नियमों को अध्यारोही प्रभाव दिया जा सके, सप्रयोजन कार्य हास्यास्पद रूप से व्यर्थ हो जाएगा। यदि विधियों में भाषा[1] सम्बन्धी दोष मौजूद हो, तो न्यायालय को उसकी भाषा ठीक कर देनी चाहिए, न कि उन्हें समाप्त कर देना चाहिए। हमें यह अभिनिर्धारित करने में कोई भी हिचकिचाहट नहीं है कि धारा 433-क में 'के होते हुए भी' शब्दों के होते हुए भी, परिहार सम्बन्धी नियम और तत्प्रकार के उपबन्ध वहां तक अपवर्जित हो जाते हैं, जहां तक कि मृत्यु-दण्ड-अपराधों से दण्डित आजीवन बन्दियों का सम्बन्ध है।

22. विद्वान सालीसिटर जनरल ने इस बात की व्याख्या की है कि प्रारूपकार ने सर्वोपरि खण्ड में केवल धारा 432 का ही उल्लेख क्यों किया। **गोडसे वाले उपर्युक्त मामले**[2] में न्यायालय ने जो निर्णय दिया था, उसके साथ पठित धारा 432 की युक्ति से इस सूत्र का पता चल जाता है। हम संक्षेप में इस दलील को उपदर्शित करेंगे और **गोडसे वाले उपर्युक्त मामले**[2] की विवक्षाओं को बाद में चल कर विस्तार से बताएंगे, क्योंकि हमारे विनिश्चय से उनका महत्वपूर्ण सम्बन्ध है।

23. दण्डादेश देना न्यायिक कृत्य है, किन्तु न्यायालय का निर्णय दिए जाने के बाद दण्डादेश का निष्पादन करना मामूली तौर से सप्तम् अनुसूची की सूची 3 की प्रविष्टि 3 के आधार पर प्रक्रिया संहिता के अधीन कार्यपालिका का विषय है। अनुच्छेद 72 और 161 के अधीन उन सांविधानिक शक्तियों को एक ओर रखते हुए जिनमें कोई भी विधानमण्डल हस्तक्षेप नहीं

---

1 रीड डिकरसन लिखित "दि इण्टरप्रटेशन एण्ड एप्लीकेशन आफ स्टेट्यूट्स" पृष्ठ 13.

2 [1961] 3 एस० सी० आर० 440.

कर सकता और जो उनकी पहुंच से परे हैं, हम दण्डादेश देने, परिहार और छोड़ने की विधि की परीक्षा करेंगे। यदि कोई दण्डादेश अधिरोपित कर दिया गया है, तो अनुबद्ध अवधि के पूर्व उसका पर्यवसान करने का एकमात्र रास्ता धारा 432/433 या अनुच्छेद 72/161 के अधीन कार्रवाई करना है और यदि संविधान के अधीन पश्चात्कथित शक्ति का सहारा नहीं लिया जाता है, तो जहां तक कि आजीवन बन्दी का सम्बन्ध है, छुटकारे का एकमात्र स्रोत धारा 432 और धारा 433-क के अधीन शक्तियों का प्रयोग करना है। जैसी कि विधि है, उसके अधीन दण्डादेश में कमी करके या उसका परिहार करके किसी अन्य प्रकार से छोड़ा जाना संभव नहीं है। यदि सूची 2 की प्रविष्टि 4 के अधीन राज्य की विधायी शक्ति का इतना विस्तार किया जाए जिससे कि उस मुद्दे की ही उपेक्षा हो जाए, तो भी केवल कारागार और बन्दियों के सम्बन्ध में ही उसका प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु न्यायिक दण्डादेशों की काट-छांट करने में उसका प्रयोग कभी भी नहीं किया जा सकता। इनाम के तौर पर अन्यथा किए गए परिहारों से दण्डादेश में इस रूप में कम नहीं की जा सकती और यह बात निसंदिग्ध रूप से समझ ली जानी चाहिए कि धारा 432(1) के अधीन सरकार द्वारा छोड़े जाने के सिवाय उन के आधार पर बन्दी को अन्तिम रूप से मुक्त नहीं किया जा सकता। "कारागार और बन्दी" विषय के अन्तर्गत स्वयं दण्डादेश को कम करके छोड़ने की बात नहीं आती। उसका सम्बन्ध तो सूची 3 की प्रविष्टि 2 में दी गई दण्ड प्रक्रिया से है, यद्यपि, जबकि दण्डादेश नियत अवधि के लिए होता है और परिहार तथा कारागार में भुगती गई कालावधि उस अवधि के बराबर होती है, तो बन्दी छोड़ा जा सकता है। कोई भी परिहार जिसके परिणामस्वरूप बन्धनमोक्ष होता है, परिहार सम्बन्धी नियमों के साथ पठित धारा 432(1) के अधीन की जाने वाली कार्रवाई की अपेक्षा करता है। यही कारण है कि संसद ने धारा 432 को दण्डादेश के परिहार का एकमात्र स्रोत बताया जो कि सर्वोपरि खण्ड द्वारा निर्बन्धित है। परिहार चाहे कितना ही लम्बा क्यों न हो, उसके आधार पर राज्य न्यायिक दण्डादेश के समाप्त होने के पूर्व, सांविधानिक शक्ति के अधीन या धारा 432 के अधीन कार्रवाई करके बन्दी को छोड़ने के सिवाय उसको छोड़ नहीं सकता। यदि इसे इस प्रकार पढ़ा जाए, तो यह निष्कर्ष अवश्यम्भावी है कि यदि तत्प्रतिकूल दलील कटुतापूर्ण हो, तो भी उससे धारा 433-क के उस उद्देश्य की पूर्ति हो जाती है जो कि वह चाहती है, अर्थात् उससे धारा 432 को निर्बन्धित करके, कतिपय कालावधि के पहले कतिपय वर्गों के आजीवन बन्दियों को छोड़ने पर विराम लगा देती है।

24. हम इस निर्णय को उद्धरणों के बोझ से बोझिल नहीं करना चाहते, किन्तु उसे मामले के इस भाग में दो महत्वपूर्ण प्रामाणिक निर्णयों तक ही सीमित रखना चाहते हैं। दण्डादेश देने से सम्बन्धित न्यायशास्त्र के मूल सिद्धान्तों को भारतीय विधि के संदर्भ में समझना पड़ेगा। पहला यह है कि दण्डादेश देना न्यायिक कृत्य है, और परिहार करने, लघूकरण करने या अन्यथा संक्षिप्त करने के रूप में उस दण्डादेश को निष्पादित करने के मामले में चाहे जो भी किया जाए, कार्यपालिका दण्डादेश में स्वयं कोई भी परिवर्तन नहीं कर सकती। रामा वाले उपर्युक्त मामले[1] में इस न्यायालय की संविधान पीठ ने विधि की इस शाखा के सम्बन्ध में अपने मत व्यक्त किए थे। दण्डादेश के परिहार का न्यायिक परिणाम क्या है—

> "प्रथमतः, परिहार का आदेश अपराध के अस्तित्व को समाप्त नहीं करता ; वह दोषसिद्धि को भी नहीं धो डालता। वह जो भी करता है, वह दण्डादेश के निष्पादन पर प्रभाव डालता है ; यद्यपि मामूली तौर से सिद्धदोष व्यक्ति को न्यायालय द्वारा अधिरोपित पूरा दण्डादेश भुगतना पड़ेगा, तथापि दण्डादेश के उस भाग के सम्बन्ध में, जिसकी बाबत यह आदेश किया गया हो कि उसका परिहार कर दिया जाए, उसे ऐसा करने की आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार परिहार का आदेश न्यायालय के आदेश में किसी भी प्रकार से भी हस्तक्षेप नहीं करता ; उसका प्रभाव केवल न्यायालय द्वारा पारित दण्डादेश के निष्पादन पर ही पड़ता है और सिद्धदोष व्यक्ति को न्यायालय द्वारा अधिरोपित कारावास की पूर्ण अवधि भुगतने के उसके दायित्व से छुटकारा दिलाता है, यद्यपि दोषसिद्धि का आदेश और न्यायालय द्वारा पारित दण्डादेश उसी प्रकार बना रहता है, जैसा कि वह था। परिहार अनुदत्त करने की शक्ति कार्यपालक शक्ति है और उसका प्रभाव वह नहीं हो सकता है जो कि अपील या पुनरीक्षण न्यायालय के आदेश का विचारण न्यायालय द्वारा पारित दण्डादेश को कम करने का, या उसके स्थान पर अपील या पुनरीक्षण न्यायालय द्वारा न्यायनिर्णीत किए गए लघूकृत दण्डादेश को प्रतिस्थापित करने का होता है। वीटर लिखित 'कांस्टीट्यूशनल लॉ' के जो कि दण्ड अधिरोपित करने वाले न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय के सम्बन्ध में किए गए प्रविलम्बन और क्षमा के प्रभाव के सम्बन्ध

[1] [1961] 2 एस० सी० आर० 133, 137-138.

में है, पृष्ठ 176 पैरा 134 में आए हुए निम्नलिखित अवतरण में इस प्रभेद की व्याख्या पूरी तरह की गई है—

"प्रविलम्बन विधि द्वारा नियत दण्ड का अस्थायी निलम्बन है। क्षमा ऐसे दण्ड का परिहार है। दोनों ही कार्यपालक कृत्यों का प्रयोग है और उनका प्रभेद दण्डादेश के सम्बन्ध में न्यायिक शक्ति के प्रयोग से किया जाना चाहिए। जस्टिस सुदरलैंड ने मत व्यक्त किया था कि 'दण्डादेशों के सम्बन्ध में न्यायिक शक्ति और कार्यपालक शक्ति का प्रभेद सरलता से किया जा सकता है'; 'निर्णय देना न्यायिक कृत्य है। उस निर्णय को प्रभावी बनाना कार्यपालक कृत्य है। राज्य-क्षमा के कार्य द्वारा किसी दण्डादेश को लघूकृत करना कार्यपालक शक्ति का ऐसा कार्य है जो कि निर्णय के प्रवर्तन का न्यूनन करता है, किन्तु उससे निर्णय की हैसियत में कोई भी परिवर्तन नहीं होता'।

अतः, यद्यपि परिहार के आदेश का प्रभाव कारावास के दण्डादेश के उस भाग को मिटाना होता है जो नहीं भुगता गया है और इस प्रकार उस दण्डादेश को उतनी कालावधि तक व्यवहार में कम करना है जितनी कि उसने पहले ही भुगत ली है, तथापि विधि की दृष्टि से परिहार के आदेश से केवल यह अभिप्रेत है कि न्यायालय द्वारा की गई दोषसिद्धि के आदेश को तथा उसके द्वारा पारित दण्डादेश को अप्रभावित छोड़ते हुए शेष दण्डादेश के भुगतने की जरूरत नहीं है।"

इस न्यायशास्त्रीय प्रभेद की संगति यह है कि परिहार उस सीमा तक के सिवाय जो कि बन्दी को समय-पूर्व मुक्त होने का हकदार उस दशा में बनाती है, यदि परिहार के परिणामस्वरूप की जाने वाली कमी का प्रभाव गणितीय दृष्टि से वही होता है, दण्डादेश की मात्रा या क्वालिटी अथवा उसके प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभावों से विचलन नहीं कर सकता।

25. मामूली तौर से, जहां भी कोई दण्डादेश किसी निश्चित अवधि तक के लिए होता है, वहां परिहारों की गणना विधि से, बन्दी को उस समय तुरन्त छूट जाने का फायदा मिल सकता है, जब कि परिहार की कालावधि घटाने का परिणाम शून्य होता है। यहां पर हमारा सम्बन्ध आजीवन कारावास से है और इसलिए हम दण्डादेश की उस प्रकृति से सम्बन्धित एक दूसरी संकल्पना पर विचार करेंगे जिसकी व्याख्या गोपाल विनायक गोडसे बनाम महाराष्ट्र राज्य वाले मामले[1] में की गई है। जहां कि दण्डादेश अनवधारित

[1] [1961] 3 एस० सी० आर० 440.

तथा अनिश्चित अस्तित्वावधि का है, वहां अनिश्चित परिमाण में से घटाने का परिणाम अनिश्चित परिमाण होता है और बन्दी की अनिश्चित अस्तित्वावधि के दण्डादेश के परिमाणीकरण की किसी कल्पना के आधार पर छोड़े जाने के सिवाय उसे छोड़ा नहीं जा सकता।] गोडसे को आजीवन कारावास से दण्डादिष्ट किया गया था। उसने पर्याप्त परिहार अर्जित कर लिए थे जो कि उसे छोड़े जाने का पात्र बनाते, यदि आजीवन दण्डादेश भारतीय दण्ड संहिता की धारा 55 के अनुसार 20 वर्ष के कारावास के बराबर होता। ऐसे नियम के आधार पर जिसने वह समीकरण नहीं बनाया था, गोडसे ने संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन रिट पिटीशन फाइल करके अपने को छुड़वाना चाहा। इस न्यायालय ने उसे धुतकार दिया। संविधान न्यायपीठ ने जिसका निर्णय न्यायाधिपति सुब्बा राव ने सुनाया था, यह मत अपनाया था कि आजीवन कारावास का दण्डादेश उस कारावास से जो कि जीवन की अन्तिम सांस तक रहता है, न तो कम होता है और न ही उससे भिन्न कोई और बात है। [चूंकि मृत्यु अनिश्चित थी, इसलिए परिहार के तौर पर की गई कमी के परिणामस्वरूप उसे छोड़ने की कोई निश्चित तारीख नहीं थी और इसलिए गोडसे की प्रार्थना अस्वीकृत कर दी गई। आजीवन दण्डादेश की प्रकृति ऐसा कारावास है जो मृत्युपर्यन्त रहता है, तथा आजीवन कारावास के न्यायिक दण्डादेश को परिहारों के दीर्घकालीन संचयनों के कारण मात्र खतरे में नहीं डाला जा सकता।] दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1898 की धारा 401 के अधीन (जो कि 1973 वाली संहिता की धारा 432 की तत्सम्बन्धी धारा है) समुचित सरकार के आदेश के आधार पर या संविधान के अनुच्छेद 72 या 161 के अधीन शक्ति के प्रयोग में राज्य-क्षमा के आदेश के आधार पर ही छोड़ा जा सकता है। **गोडसे वाला (उपर्युक्त) मामला**[1] इस प्रतिपादन के लिए प्रामाणिक नजीर है, कि आजीवन कारावास का दण्डादेश सिद्धदोष किए गए व्यक्ति के प्राकृतिक जीवन की बची हुई सम्पूर्ण कालावधि के लिए कारावास का दण्डादेश है। आजीवन कारावास के दण्डादेश से सम्बन्धित मामलों में दिए गए परिहार के संदर्भ में विधिक स्थिति इस प्रकार स्पष्ट की गई—

> "जब तक कि उक्त दण्डादेश भारतीय दण्ड संहिता या दण्ड प्रक्रिया संहिता के सुसंगत उपबन्धों के अधीन समुचित सरकार द्वारा लघूकृत या उसका परिहार नहीं कर दिया जाता तब तक आजीवन कारावास से दण्डादिष्ट बन्दी को विधि की दृष्टि से कारागार में

---

[1] [1961] 3 एस० सी० आर० 440.

आजीवन कारावास भुगतना पड़ेगा। कारागार अधिनियम के अधीन विरचित नियम ऐसे बन्दी को—मामूली, विशेष और राज्य के—परिहार अर्जित करने में समर्थ बनाते हैं और उक्त परिहार उसके कारावास की अवधि में से कम कर दिए जाएंगे। परिहारों का हिसाब लगाने के प्रयोजन के लिए, आजीवन कारावास के दण्डादेश को मामूली तौर से निश्चित कालावधि के समान डाला जाता है, किन्तु वह केवल विशिष्ट प्रयोजन के लिए होता है, न कि किसी अन्य प्रयोजन के लिए। चूंकि आजीवन कारावास या कारागार भुगतने की दृष्टि से उसका समतुल्य आजीवन कारावास अनिश्चित अस्तित्वावधि का दण्डादेश होता है, इसलिए इस प्रकार उपार्जित परिहार ऐसे सिद्धदोष व्यक्ति की सहायता व्यवहार में नहीं करते, क्योंकि यह बता देना सम्भव नहीं है कि उसकी मृत्यु कब होगी। यही कारण है कि नियमों में ऐसी प्रक्रिया के लिए उपबन्ध किया गया है जो समुचित सरकार सुसंगत बातों के विचार के आधार पर जिनके अन्तर्गत उपार्जित परिहारों की कालावधि भी है, दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 401 के अधीन दण्डादेश का परिहार करने में समर्थ हो सके। परिहार का प्रश्न समुचित सरकार के क्षेत्राधिकार के भीतर अनन्य रूप से है, और इस मामले में यह स्वीकार किया गया है कि यद्यपि समुचित सरकार ने दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 401 के अधीन कतिपय परिहार किए थे, तथापि उसने सम्पूर्ण दण्डादेश का परिहार नहीं किया था। अतः हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि पिटीशनर ने छोड़े जाने का कोई भी अधिकार अभी अर्जित नहीं किया है।"

26. **गोडसे वाले मामले**[1] में न्यायाधिपति सुब्बा राव ने परिहार, दण्डादेश और आजीवन दण्डादेश के सम्बन्ध में संकाल्पनिक रेखाएं खींची थीं। परिहार से, जो कि समय की दृष्टि से सीमित होता है, संगणना करने में सहायता मिलती है किन्तु वह विधि की दृष्टि से बन्दी के छोड़ने के लिए प्रवर्तित नहीं होता है। किन्तु जब न्यायाधीश द्वारा दिया गया दण्डादेश निश्चित अवधि के लिए होता है, तो परिहारों का प्रभाव दण्डादेश के तथ्य और परिमाण को यथावत् बनाए रखते हुए, उस अवधि तक जो भुगतनी है, कम करना हो सकता है और इतना कम करना हो सकता है जो कि शून्य हो जाए। **रामा वाले मामले**[2] का

---

[1] [1961] 3 एस० सी० आर० 440.

[2] [1961] 2 एस० सी० आर० 133.

विनिश्चयाधार वही है। उसमें यह कहा गया था कि यदि दण्डादेश उस समय तक रहता है जब तक कि जीवन समाप्त नहीं हो जाता, तो परिहार, समय की दृष्टि से, परिमाणीकरण करने पर शून्य की स्थिति तक नहीं पहुंच सकते। गोडसे वाले मामले[1] का यही विनिश्चयाधार है। आवश्यक निष्कर्ष यह है कि चूंकि धारा 433-क में आजीवन दण्डादेशों के सम्बन्ध में ही उपबन्ध किया गया है, इसलिए परिहारों के कारण हम कहीं भी नहीं पहुंचते हैं और उनसे बन्दी छूटने का हकदार नहीं हो सकता। इस दृष्टि से परिहार सम्बन्धी नियम धारा 433-क के विरुद्ध नहीं है और गोडसे (जिसे राज्य ने बाद में चलकर छोड़ दिया था) जिसने छूटने का अधिकार अर्जित किए बिना बहुत परिहार एकत्र कर लिए थे, के मामले में न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय का प्रभाव सभी पिटीशनरों पर पड़ना चाहिए अर्थात् उन्हें चौदह वर्ष तक के वास्तविक कारावास का जीवन भुगतना पड़ेगा और इसके अलावा छोड़ने का आदेश या तो धारा 432 के अधीन अथवा संविधान के अनुच्छेद 72/161 के अधीन किया जाता है।

27. यह दर्शित करने के लिए कि धारा 433-क अवैध है, जिस दूसरी दलील पर जोर दिया गया है, वह संविधान के अनुच्छेद 20(1) पर आधारित है। इंग्लैण्ड की प्राचीन विधि का यह नियम है कि उन शास्तियों से जो कि अपराध के करने के समय अभिभावी थीं, अधिक भारी शक्तियां भूतलक्षी प्रभाव से अधिरोपित करना अनिष्टकारी है। इसके परिणामस्वरूप हमारे संविधान के अनुच्छेद 20(1) अविनियमित किया गया है। संक्षिप्त प्रश्न यह है कि क्या छोड़ने के लिए न्यूनतम अवधि के रूप में 14 वर्ष पर अनम्य रीति से जोर देने से दण्ड में पूर्वव्यापी रूप से वृद्धि होती है। यही निष्कर्ष निकालने की दृष्टि से जो दूसरी दलील दी गई है, वह यह है कि यदि अपराध के करने के समय परिहारों की कतिपय लाभदायक स्कीम लागू थी, तो वह शास्ति जो उसे उस समय दी जाती, दण्ड संहिता में बताया गया दण्ड नहीं थी, बल्कि वह दण्डादेश थी जिसे परिहार सम्बन्धी स्कीम या दण्डादेश को कम करने सम्बन्धी उपबन्ध द्वारा कम कर दिया गया है या लघूकृत कर दिया गया है। इस आधार पर, आजीवन बन्दी मामूली तौर से 14 वर्ष के बहुत पहले ही जो कि धारा 433-क द्वारा विहित कठोर किन्तु आज्ञापक न्यूनतम अवधि है, छोड़ दिए गए होते। यह उस दण्ड से जो कि उस अपराध को उस समय लागू होता जबकि वह किया गया था, अधिक बड़ा दण्ड अधिरोपित करती है।

[1] [1961] 3 एस० सी० आर० 440.

28. दोनों दलीलों में से किसी में भी बल नहीं है। पहली दलील इसलिए असफल होती है, क्योंकि भारतीय दण्ड संहिता की धारा 302 (या उसी प्रकार का अन्य उपबन्ध) आजीवन कारावास का दण्डादेश नियत करती है। चौदह वर्ष की अस्तित्वावधि आजीवन कारावास की अवधि से कभी भी अधिक बड़ी नहीं है। दूसरी दलील इसलिए असफल होती है, क्योंकि आजीवन कारावास की दशा में, कारावास के सम्पूर्ण अतिशेष दण्डादेश में कमी करने के बाद परिहार केवल तभी किया जाता है जब कि छोड़ने का अन्तिम आदेश दिया जाता है। गोडसे वाले मामले[1] से कोई भिन्न निष्कर्ष नहीं निकलता। परेशान करने वाला मृत्यु का फासला जो कि आजीवन कारावास का अन्तिम छोर होता है, परिहार पर आधारित कटौती को इतना अनिश्चित बना देता है जिससे कि तारीख निश्चितता के साथ नियत नहीं की जा सकती। इस प्रकार यदि परिहारों को पूरा महत्व दिया जाता है, तो छोड़ने की तारीख तब तक नहीं आ सकती है जब तक कि धारा 432 के अधीन सरकार सभी अनवसित और अनिश्चित अतिशेष का परिहार नहीं करती। यदि यह बात नहीं की जाती है, तो बन्दी अभिरक्षा में बना रहेगा। हम यहां पर यह मानते हैं कि सांविधानिक शक्ति को सुरक्षित बनाए रखा गया है।

29. दलील के लिए ही हम यह मानेंगे कि बन्दी ने परिहार उपार्जित कर लिए हैं। मर्फी बनाम कामनवैल्थ[2] वाले मामले में जिसके प्रति कुली ने निर्देश किया था और जो हमारे समक्ष प्रोद्धृत किया गया है, यह अभिनिर्धारित किया गया है कि उपार्जित परिहार किसी पाश्चिक विधान द्वारा छीने नहीं जा सकते। यह सम्भव है कि ऐसे नकारात्मक अभ्युपाय के प्रत्यक्ष प्रभाव के परिणामस्वरूप अधिक भारी शास्ति अधिरोपित कर दी जाए। हमें यहां पर इस स्थिति का अन्वेषण नहीं करना है।

30. इस विवेचन में आजीवन कारावास को 20 वर्ष के कारावास के समान बताने के कारण संभावित भ्रम उत्पन्न हो गया है। इस प्रयोजन के लिए भारतीय दण्ड संहिता की धारा 55 का और विभिन्न परिहार सम्बन्धी स्कीमों में दी गई परिभाषाओं का अवलम्ब लिया गया। जैसा कि गोडसे वाले मामले[1] में स्पष्ट रूप से बताया गया है कि हमें यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि ये समतुल्य अभिव्यक्तियां कुल परिहारों से सम्बन्धित अपनी विस्तृत शक्तियों के प्रयोग में राज्य की सहायता करने की दृष्टि से संगणना के सीमित उद्देश्य के लिए अभिप्रेत हैं। यदि उपार्जित परिहार कुल मिलाकर 20 वर्ष

[1] [1961] 3 एस० सी० आर० 440.

[2] 172 मैसाचुसेट 264.

हो जाते हैं, तो भी राज्य सरकार बन्दी को छोड़ सकती है और नहीं भी छोड़ सकती और जब तक कि आजीवन दण्डादेश के बचे हुए भाग का परिहार करते हुए छोड़ने सम्बन्धी ऐसा आदेश नहीं किया जाता, तब तक बन्दी अपने मुक्त होने का दावा नहीं कर सकता। कारण यह है कि आजीवन दण्डादेश, आजीवन कारावास से थोड़ा भी कम नहीं होता है। इसके अलावा, उस समय जो शास्ति थी और अब जो शास्ति है, वह वही है—अर्थात् आजीवन कारावास की अवधि। और परिहार छोड़ने का कोई भी अधिकार तब निहित नहीं करता है जब कि दण्डादेश आजीवन कारावास होता है। धारा 433-क द्वारा उससे कोई बड़ा दण्ड अधिरोपित नहीं किया गया है, जो कि विधि के अधीन अपराध के लिए मूलतः नियत किया गया था। और न 14 वर्ष के कारागार के अनिवार्य जीवन के परिणामस्वरूप रद्द किया गया परिहार (उपार्जित करने) का कोई निहित अधिकार ही होता है, यदि हम इस वास्तविकता को समझ लेते हैं कि आजीवन दण्डादेश सम्पूर्ण जीवन के लिए दण्डादेश होता है। (**सम्भाजी कृष्णजी बनाम महाराष्ट्र राज्य**[1] और **मध्य प्रदेश राज्य और अन्य बनाम रतन सिंह और अन्य**[2] वाले मामले देखिए)।

31. यह सम्भव है कि नियत अवधि वाले दण्डादेशों के मामलों में अन्तर हो। कुली[3] से इस बात को समर्थन प्राप्त होता है—

> "अपराध के करने के समय विद्यमान विशेषाधिकार (उदाहरण के लिए अच्छे व्यवहार द्वारा दण्डादेश के लघूकरण को उपार्जित करने का विशेषाधिकार) बाद के किसी भी कानून द्वारा छीना नहीं जा सकता।"

32. श्री कक्कड़ ने बहुत ही युक्तिसंगत रूप में जिस दूसरी दलील पर जोर दिया है, वह यह है कि प्रक्रिया संहिता की धारा 5 सभी परिहारों, दण्डादेशों का लघूकरण करने की सभी स्कीमों को विशेष और स्थानीय विधियों के रूप में व्यावृत करती है और इसी कारण से उन्हें धारा 433-क सहित संहिता पर अभिभावी होना चाहिए। धारा 5 निम्नलिखित रूप में है—

> "5 इससे प्रतिकूल किसी विनिर्दिष्ट उपबन्ध के अभाव में इस संहिता की कोई बात तत्समय प्रवृत्त किसी विशेष या स्थानीय विधि

---

[1] ए० आई० आर० 1974 एस० सी० 147.

[2] [1977] 2 उम० नि० प० 1010=[1976] सप्लीमेंट एस० सी० आर० 552.

[3] कुलीज कांस्टीट्यूशनल लिमिटेशन, खण्ड I आठवां संस्करण पृष्ठ 544.

पर, या तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि द्वारा प्रदत्त किसी विशेष अधिकारिता या शक्ति या उस विधि द्वारा विहित किसी विशेष प्रक्रिया पर प्रभाव नहीं डालेगी।"

33. व्यावृत्ति सम्बन्धी इस धारा का विश्लेषण सरल किन्तु अति सूक्ष्म है। मोटे तौर से तीन संघटकों को अलग-अलग किया जाना है। प्रथमतः, साधारणत रूप से, प्रक्रिया संहिता उसके अन्तर्गत आने वाले विषयों को लागू होती है। द्वितीयतः, यदि उसी क्षेत्र को अपने अन्तर्गत लाने वाला कोई विशेष या स्थानीय विधि विद्यमान होती, तो यह पश्चात्कथित विधि व्यावृत्त होगी और अभिभावी होगी। दण्डादेश को लघूकृत करने से सम्बन्धित अध्युपाय और विशेष राज्यों द्वारा प्रस्थापित परिहार सम्बन्धी स्कीमें विशेष या स्थानीय विधियां हैं और उन्हें अवश्य ही अध्यारोही होना चाहिए। उसके बाद तीसरा संघटक आता है जो कि महत्वपूर्ण हो सकता है। यदि उसके प्रतिकूल कोई विनिर्दिष्ट उपबन्ध है, तो वह विशेष या स्थानीय विधि को अध्यारोहित करेगा। क्या धारा 433-क प्रतिकूल विनिर्दिष्ट विधि है? यदि ऐसा है, तो वह अन्तिम बात होगी और विशेष या स्थानीय विधि के विरुद्ध भी कायम रहेगी।

34. विद्वान् सालीसिटर जनरल ने यह साबित करने के लिए कि धारा 433-क विनिर्दिष्ट विधि है, तीन विनिर्णय प्रोद्धृत किए। उसने स्पष्ट रूप से यह कथन किया कि **बीरम सरकार और अन्य** बनाम **सम्राट**[1] वाले मामले में इसके प्रतिकूल किन्तु व्यर्थ मत अपनाया गया है। **पाटाला नारायण स्वामी** बनाम **सम्राट**[2] वाले मामले में ज्युडिशियल कमेटी ने अनिर्णीत रूप से इस बात पर विचार किया था कि विनिर्दिष्ट विधि समरूप परिस्थिति में क्या होती है? लाहौर के बाद वाले दो मामलों में (पांच न्यायाधीशों की पूर्ण न्यायपीठ ने) [**हकीम खुदा यार** बनाम **सम्राट**[3] और इलाहाबाद के (तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने) **बलदेव और अन्य** बनाम **सम्राट**[4]] लगभग समान विवाद्यक का विवेचन किया था और यह अभिनिर्धारित किया था कि प्रक्रिया संहिता के कुछ उपबन्ध प्रतिकूल विनिर्दिष्ट धाराएं हैं और उस विषय से सम्बन्धित किसी भी विशेष विधि को रद्द कर देगी।

---

[1] ए० आई० आर० 1941 बाम्बे 146.

[2] एल० आर० (1939) इण्डियन अपील्स 66.

[3] ए० आई० आर० 1940 लाहौर 129.

[4] ए० आई० आर० 1940 इलाहाबाद 263.

35. दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1898 की धारा 1(2) वर्तमान संहिता की धारा 5 की तत्सम्बन्धी धारा है और उसमें वस्तुतः वही शब्दावली मौजूद है। 1898 वाली संहिता में 'तत्प्रतिकूल विनिर्दिष्ट उपबन्ध' अभिव्यक्ति पर दोनों पूर्ण न्यायपीठों वाले विनिश्चयों पर विचार किया गया था। जिस पृष्ठ-भूमि में वह विवाद्यक उठा था, वह बिल्कुल ही समरूप थी और 'तत्प्रतिकूल विनिर्दिष्ट उपबन्ध' के अर्थ पर लाहौर वाले (पूर्वोक्त) मामले[1] में मुख्य न्यायमूर्ति यंग ने विचार किया था जिसमें विद्वान् न्यायाधीश ने यह मत व्यक्त किया था—

> " 'विनिर्दिष्ट' (स्पेसिफिक) शब्द की परिभाषा मूर की आक्स-फोर्ड डिक्शनरी में इस प्रकार दी गई है : शर्तों या निबन्धनों की पूर्ति के सम्बन्ध में निश्चितार्थतापूर्ण या यथार्थ ; निश्चित सुस्पष्ट।"

36. उसी प्रकार की स्थिति में, इन्हीं शब्दों के सम्बन्ध में इलाहाबाद वाले (पूर्वोक्त) मामले[2] में भी विनिश्चय किया गया था, इसमें न्यायमूर्ति ब्रांड ने 'विनिर्दिष्ट उपबन्ध' (स्पेसिफिक प्राविज़न) के अर्थ का विवेचन काफी विस्तार से किया था और यह मत व्यक्त किया था—

> "मैं यह मानता हूं कि मुझे इस सम्बन्ध में कोई सन्देह था कि 'विनिर्दिष्ट उपबन्ध' (स्पेसिफिक प्राविज़न) शब्दों का निश्चित रूप से क्या अर्थ होता है। पहले मैं यह सोचता हूं कि वे 'अभिव्क्त' उपबन्ध शब्दों से कोई भिन्न बात उपदर्शित करते हैं। कानून के उपबन्ध के लिए किसी अन्य कानून या उसके भाग पर प्रभाव डालने वाले 'अभि-व्यक्त उपबन्ध' होने के लिए, मैं समझता हूं, अनेक शब्दों में किसी अन्य कानून के प्रति या उसके सुसंगत भाग के प्रति तथा उस पर उत्पन्न किए जाने के लिए आशयित प्रभाव के प्रति भी निर्देश करना होगा। यदि ऐसी बात न हो, तो उसके सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि वह 'अभिव्यक्त' है...... । किन्तु मेरी दृष्टि में 'विनिर्दिष्ट' (स्पेसिफिक) शब्द 'अभिव्यक्त' शब्द से कम कोई निश्चित बात उप-दर्शित करता है। मैं समझता हूं कि उससे ऐसा उपबन्ध अभिप्रेत है जो कि यह विनिर्दिष्ट करता है कि उस विशिष्ट उपबन्ध से किसी 'विशेष विधि' शब्द पर प्रभाव पड़ने वाला है। जैसा की मूर की न्यू इंग्लिश डिक्शनरी में दिया गया है, 'विनिर्दिष्ट करना' शब्द का शब्द-

[1] ए० आई० आर० 1940 लाहौर 129 पृष्ठ 133.

[2] ए० आई० आर० 1940 इलाहाबाद 263-269.

कोष में विहित किया गया अर्थ यह है : (किसी बात का) निश्चित रूप से या सुस्पष्ट रूप से उल्लेख करना, उसके बारे में बताना या उसका नाम लेना ; स्पष्ट शब्दों में या विशिष्टतया लेखबद्ध करना या कथन करना। ... . और उसी शब्दकोष में विशेषण 'विनिर्दिष्ट' शब्द का अर्थ यह दिया गया हैं : "निश्चितार्थतापूर्ण........निश्चित, सुस्पष्ट ......यथार्थ रूप से नामित या उपदर्शित या निश्चितार्थतापूर्ण या विशिष्ट होने के योग्य होना"। अतः 'विनिर्दिष्ट उपबन्ध' शब्दों से मेरे विचार से जो वास्तव में अभिप्रेत है, वह यह है कि : 'दण्ड प्रक्रिया संहिता के विशिष्ट उपबन्ध को, विशेष विधि को प्रभावित करने की दृष्टि से, न कि साधारणतः कानून से विवक्षा द्वारा मात्र निष्कर्ष निकालकर स्वयं ही स्पष्ट रूप से यह उपदर्शित करना चाहिए कि प्रश्नगत 'विशेष विधि' उस विशेष विधि के प्रति या अभिव्यक्त निबन्धनों में उत्पन्न किए जाने के लिए आशयित उस पर होने वाले प्रभाव के प्रति आवश्यक रूप से निर्देश किए बिना प्रभावित होनी है। लार्ड हैथरे ने [(1899) 3 अपील केसेज 933-938] आम बोलचाल की भाषा में 'विनिर्दिष्ट' (स्पेसिफिक) शब्द की प्ररिभाषा इस प्रकार की है और उससे साधारण से सुभिन्न अभिप्रेत होता है......। इसमें सन्देह नहीं कि 'विनिर्दिष्ट करना' (स्पेसीफाई) और विनिर्दिष्ट' (स्पेसीफिक) शब्दों के सदृश उपयोगों के अनेक उदाहरण देना सम्भव है। किन्तु मैं समझता हूं कि यह दर्शित करना पर्याप्त है कि 'अभिव्यक्त' से कुछ कम बात की अपेक्षा करते हुए, वे फिर भी किसी ऐसी बात की अपेक्षा करते हैं जो कि स्पष्ट, निश्चित और बोधगम्य हो, न कि मात्र साधारणतः कानून से निकाले जाने वाले निष्कर्ष या सुरक्षा का विषय हो। मेरी दृष्टि से दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 1(2) में आए हुए 'विनिर्दिष्ट' शब्द से यही अभिप्रेत है।"

37. इंग्लैण्ड के नैट बुक एग्रीमेंट, 1957 वाले मामले[1] में जस्टिस बकले ने 'विनिर्दिष्ट' (स्पेसिफिक) शब्द का निर्वचन किया था और उन्होंने उसका अर्थ सुस्पष्ट और परिभाष्य के रूप में बताया था। जबकि अंग्रेजी शब्दों का उपयोग भारत में किया जाता है, तो प्रायः उसमें उस भावना का अभाव रहता है जिस भावना से अंग्रेजी भाषा-भाषी क्षेत्र में वह किया जाता है और भारतीय न्यायाधीश प्रायः विदेशी शब्दों और वाक्यों का भारतीय

[1] (1962) 3 आल इंग्लैंड रिपोर्ट्स क्वीन्ज बेंच डिवीजन 751.

ढंग से अर्थान्वयन करते हैं, यहां पर पूर्व और पश्चिम मिलते हैं तथा 'विनिर्दिष्ट' शब्दों की परिधि इतनी काफी विनिर्दिष्ट हो जाती है जिससे कि वह अस्पष्ट तथा साधारण होने से बच जाती है। फाउलर[1] ने इस शब्द के बारे में यह माना है कि उसका सम्बन्ध जाति से भिन्न उपजाति के महत्वपूर्ण विचार से है और उसका मत यह है कि वे लोग प्राय: उसका सहारा लेते हैं जिन्हें उनके अर्थ के बारे में स्पष्ट रूप से पता नहीं होता किन्तु जो यह मानते हैं कि उससे सजी हुई निश्चितार्थता का अभाव विस्तृत होता है। स्ट्राउक[2] का कथन यह है कि 'विनिर्दिष्ट रूप से' (स्पेसीफिकली) से उसी रूप में अभिप्रेत है। अन्य बातों के साथ-साथ ब्लैक[3] ने 'विनिर्निष्ट' (स्पेसीफिक) शब्द का निम्नलिखित अर्थ बताया है : निश्चित, सुस्पष्ट, यथार्थ या विशिष्ट प्रकृति का.... विशिष्ट ; निश्चितार्थतापूर्ण। जबकि कानूनी भाषा और अंग्रेजी भाषा कभी-कभी परस्पर विरोधी होती हैं, हमें न्याय की भाषा का सहारा लेना पड़ता है जो कि प्रारूपकार का शब्द सम्बन्धी मार्गदर्शक होती है।

38. मुम्बई वाले मामले[4] में इसके प्रतिकूल मत, व्याख्याकारी होने की अपेक्षा अधिक निश्चयात्मक है और उसके शब्द भले ही न्यायिक क्यों न हों, उन्हें विधिमान्य नहीं ठहराते। हम लाहौर[5] और इलाहाबाद[6] वाले मामलों में व्यक्त मत से सहमत हैं। कोई बात तब विनिर्दिष्ट होती है यदि वह सुस्पष्ट हो। उसे अभिव्यक्त होने की आवश्यकता नहीं है। विरोधाभास, विनिर्दिष्ट और अनिश्चित या सर्वग्राही के बीच, और विवक्षित तथा अभिव्यक्त के बीच है। जो बात निश्चितार्थतापूर्ण, यथार्थ, निश्चित और सुस्पष्ट है, वही विनिर्दिष्ट होती है। कभी-कभी जो बात विनिर्दिष्ट होती है वह विशेष भी हो सकती है किन्तु फिर वे अर्थ विचार की दृष्टि से सुभिन्न हैं। इस दृष्टिकोण से, दण्ड प्रक्रिया संहिता साधारण संहिता है। परिहार सम्बन्धी नियम विशेष विधियां हैं, किन्तु धारा 433-क ऐसा विनिर्दिष्ट, सुस्पष्ट, निश्चित उपबन्ध है जिसमें विशिष्ट स्थिति के बारे में या दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 432 की परिधि के भीतर आने वाले साधारण प्रकार के मामलों से भिन्न सीमित वर्ग के मामले या मामलों के बारे में

---

[1] फाउलर का माडर्न इंग्लिश यूसेज, दूसरा संस्करण, पृष्ठ 574.

[2] स्ट्राउक की 'ज्युडिशियल डिक्शनरी', खण्ड 4 तृतीय संस्करण, पृष्ठ 2836.

[3] ब्लैक की 'लॉ डिक्शनरी', चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ 1571.

[4] ए० आई० आर० 1941 बॉम्बे 146.

[5] ए० आई० आर० 1940 लाहौर 129-133.

[6] ए० आई० आर० 1940 इलाहाबाद 263-269.

व्यवस्था की गई है। धारा 433-क आजीवन कारावास के विनिर्दिष्ट वर्ग के मामले कारावास के बहुत से मामलों में से चुन लेती है और उसके साथ सुस्पष्ट रूप से विशिष्टीकृत व्यवहार करती है। इससे यह अर्थ निकलता है कि धारा 433-क किसी भी विशेष या स्थानीय विधि की अधिमानता में लागू होती है, क्योंकि धारा 5 अभिव्यक्त रूप से यह घोषित करती है कि तत्प्रतिकूल विनिर्दिष्ट उपबन्ध, यदि कोई हो तो, किसी विशेष या स्थानीय विधि पर अभिभावी होगी। हमने यह स्पष्ट करने की दृष्टि से, पर्याप्त मत व्यक्त कर दिया है कि 'विनिर्दिष्ट' पर्याप्त रूप से विनिर्दिष्ट है और यद्यपि विनिर्दिष्ट के लिए जो बात विशेष होती है, वह लगभग संवर्गी है तथा उनमें बहुत बारीक अन्तर है, फिर भी वे भिन्न हैं। धारा 433-क, धारा 5 की अपवर्जन, परिधि से बाहर है।

39. अब इस दलील पर विचार करने के लिए पृष्ठभूमि तैयार हो गई है कि धारा 433-क किन कारणों से अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण करती है। वह मनमाने ढंग से अपराध और अपराधियों की असमान, किन्तु महत्वपूर्ण विभिन्नताओं की इस प्रकार उपेक्षा करती है जो कि दण्ड सम्बन्धी बोध के हमारे युग में दण्ड के लिए सुसंगत है और उसने उनके लिए आदेशात्मक न्यूनतम अवधि तक कारागार में रहने के लिए 14 वर्ष की भयावह अवधि निश्चित कर दी। असमान को समान मानना अनुच्छेद 14 के लिए अभिशाप है। द्वितीयतः, यह धारा अन्य लोगों के विपरीत किन्हीं द्वारा व्यक्त प्रगतिशील विचारों से सम्बन्धित सम्परीक्षा रिपोर्ट की उपेक्षा करती हुई, सुधार-वाद-विरोधी अमानवीयता यथा हिंसावादी क्रूरता के साथ, प्रत्येक आजीवन बन्दी पर मनमाने ढंग से 14 वर्ष की दीर्घकालीन न्यूनतम अवधि अधिरोपित करती है। किसी बन्दी का पूरी तरह से पुनस्समाजीकरण होने के बहुत समय बाद भी, उसके निरन्तर निरोध पर सनकपूर्ण ढंग से जोर देना आवश्यकता से अधिक दण्ड देना, निरुद्देश्य यन्त्रणा देना है और वह सांविधानिक भूल है। हमारी पद्धति की दण्ड सम्बन्धी युक्तिसंगत नीति की और प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाए बिना कठोर कारावास की पाशविक धृष्टता की छानबीन किए बिना, उलझी हुई ये दोनों दलीलें नहीं समझी जा सकतीं; अपराधियों के प्रति महात्मा गांधी का सुधारवादी दृष्टिकोण था; और, जहां कि दैहिक स्वाधीनता अन्तर्ग्रस्त है, **मेनका गांधी बनाम भारत संघ**[1] वाले मामले में नकारात्मक प्रक्रियाओं में ईमानदारी अपनाने पर जोर दिया गया था।

---

[1] [1979] 1 उम० नि० प० 243=(1978) 1 एस० सी० सी० 248.

40. इस न्यायालय ने विगत में दण्डादिष्ट करने की वैधता और सांविधानिकता की जांच की है तथा हमें दाण्डिक न्याय से भिन्न स्तर पर लाकर खड़ा कर दिया है। निस्सन्देह, अधिक अच्छे प्रतिपादनों को पूरी तरह समझने के लिए उत्कृष्ट ग्रहण-शक्ति की आवश्यकता होती है, जैसा कि इस न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीशों ने प्रायः दर्शित किया है। यहां पर प्रतिपादन यह है—श्री तारकुण्डे और श्री गर्ग ने (यहां पर) तथा अन्यत्र भी पर्याप्त सीमा तक इस बात पर जोर दिया है—कि कारागार सम्बन्धी दण्डादेश का मुख्य प्रयोजन परिवेश को दोषरहित बनाना और मनोपचार करना है, न कि त्रासज दुखानुभव; व्याधिशमक विधा है, न कि ऐसी प्रतिषेधात्मक शक्ति, जो कि आजकल संस्कारिक विभेद के तौर पर पेश की जाती है जिसको लोक-भर्त्सना कहते हैं। इस दलील की परिधि के भीतर अन्य दण्डात्मक उद्देश्य अपवर्जित हो जाते हैं, जैसे कि दीर्घकालिक वेदना के उदाहरण के जरिए अपभीति और समुचित यातना के जरिए प्रतिदण्ड। दण्ड सम्बन्धी छानबीन दण्डादेश देने विषयक न्यायशास्त्र के लिए मौलिक है, किन्तु हमारे वर्तमान विनिश्चय के लिए, एकमात्र सुसंगत मुद्दा यह है कि क्या पुनर्वासन दण्ड का इतना बड़ा संघटक होता है जिससे कि वह किसी ऐसी दाण्डिक तकनीक को जो कि बन्दी के सुधार की बात को लांछित करती है, मनमानी, अतर्कसंगत और इसी कारण असांविधानिक बना देता है। हम यह महसूस करते हैं कि सुधार करने की रणनीति ऐसी सामाजिक प्रतिरक्षा के लिए महत्वपूर्ण है जो कि अपराधी के दण्ड के लिए अन्तिम न्यायौचित्य है। और चूंकि दैहिक क्षति का मानसिक रूप से कभी भी उपचार नहीं होता है, इसलिए किन्हीं भी विधायी दण्ड-वैज्ञानिकों के लिए सुधारवादी परिहार और समय के छोड़ने की गणनाविधि से बन्दी के पुनस्समाजीकरण के लिए विद्यमान सम्भाव्यता को अस्वीकृत करना दुराग्रहपूर्ण सुधार-विरोध है। अभिरक्षा में 14 वर्ष की अनिवार्य कालावधि, चाहे आजीवन-बन्दी के भीतर का व्यक्ति अपने जीवन का नया अध्याय आरम्भ कर देवता ही क्यों न हो गया हो या क्रूर ही क्यों न बना रह गया हो, कारागार के शासनतंत्र और जेलर के सम्बन्धों की कृपा से, संवेदनाशून्य लगती है। करुणा, दया, प्रेम और मानवता आध्यात्मीकृत मानवतावाद की ऐसी संकल्पनाएं हैं जो कि हमारे संविधान की प्रस्तावना में धर्मनिरपेक्षता के साथ विवक्षित हैं। हमारी न्यायपद्धति को हमारे सांस्कृतिक तत्व से पृथक् करना, औपनिवेशिक विगत के काफी दिनों तक बने रहने के कारण, पशुत्वपूर्ण दण्ड के रोग की जड़ हो सकता है। अपराध को समाप्त करने के लिए अपराधी को यन्त्रणा देने से मानव की गरिमा और उचित

विधिक प्रक्रिया को बढ़ावा नहीं मिलता है। जो भी हो, इस न्यायालय ने सुनील बत्रा बनाम दिल्ली प्रशासन[1] वाले मामले में यह मत व्यक्त किया था—

"हमारे बन्दीगृहों में परिवर्तन की वायु का संचार किया जाना चाहिए और आत्माभिव्यक्ति तथा आत्मसम्मान एवं आत्यानुभूति अमानवीकृत उपचारों के स्थान पर सृजनात्मक रूप से प्रतिस्थापित कर दी जानी चाहिए और कारागार के स्थलों में आज भी वहशी जीवन की तकनीकें विद्यमान हैं उन्हें छिन्न-भिन्न कर दिया जाना चाहिए। कुछ कारावास कुपात्र जो आज भी विद्यमान हैं, अनेक मानविक व्यक्तियों को शहीद नहीं बनाएंगे और इन गिने-चुने व्यक्तियों में से भी विश्वास धीरे-धीरे आस्था का रूप धारण कर लेगा। सर्वोदय और अन्त्योदय के आकार दाण्डिक स्वरूप के होते हैं जिन्हें कि हमारे सामाजिक न्याय की जागरूकता को समझाना चाहिए और वास्तविक रूप देना चाहिए। मैं इस सम्प्रेक्षण को एक उदात्त किन्तु अधूरे अनुभव (अथवा अननुध्यात महाकाव्य) के प्रति निर्देश से न्यायोचित ठहराऊंगा जिसके द्वारा श्री जयप्रकाश नारायण पश्चाताप करने वाले मृत्यु के घाट उतारने वाले चम्बल घाटी के खतरनाक डकैतों के जीवन में जो कि जेल के अन्तर्गत थे अथवा बाहर, महत्वपूर्ण परिवर्तन लाए थे। उनका पुनर्वास करने के लिए जो पश्चात्वर्ती कार्यवाही की गई वह सम्भवतः विफल रही।

×× ×× ×× ××

कारागार सम्बन्धी विधियों का जो कि इस समय अनुचित अवस्था में हैं, पुनर्वास किया जाना आवश्यक है। कारागार कर्मचारि-वृन्द जो कि बीते समय से राज की परम्पराओं में डूबा हुआ है उसे नवीन रूप देना होगा। कारागार और उसकी पद्धतियों में जो कि बदले की भावना की कठोर व्यवस्था को बनाए हुए पुनः रचित की जानी चाहिए, बन्दी जो कि निःस्तब्ध व्यक्ति हैं और एक ऐसा समूह गठित करते हैं मुखरित रूप धारण नहीं कर सकते चिकित्सीय तकनीक के लिए चीखपुकार के पात्र हैं और कारागार सम्बन्धी न्याय दीर्घ विधिशास्त्रीय गतिशीलता के पश्चात् अब निश्चित रूप से न्यायिक मुक्ति द्वारा पुनर्जन्म लेंगे यदि इसकी आवश्यकता हो।

---

1 [1979] 3 उम० नि० प० 407=(1978) 4 एस० सी० सी० 498.

आगे मत व्यक्त किया गया—

हम अपने विद्वान् बन्धु न्यायाधिपति कृष्ण अय्यर के इस उद्वेग और चिन्ता में सम्मिलित हैं जो उन्होंने बन्दियों की ओर दृष्टिकोण के पुनर्निर्धारण के लिए और कारागारों के सुधार के लिए शीघ्र और प्रभावी कदम उठाने की आवश्यकता के बारे में व्यक्त की है। जेल नियमावली विस्तृत रूप से समयातीत है और उसमें कोड़े मारने और गांधी टोपी के प्रयोग का वर्जन जैसी कालदोष-विषयक बातें अभी भी हैं। उसके पुनर्वास और सामाजिक जीवन की मुख्य धारा में उसे बनाए रखने और उसकी स्वीकृति के दृष्टिकोण से बन्दी का बर्बर व्यवहार अन्त में प्रतिउत्पादक बन जाता है।

आदर्श कारागार मैन्युल (माडल जेल मैन्युल) के जिसे भारतीय कारागार के सोपानतंत्र ने तथा महत्वपूर्ण अपराध-विज्ञानी डा० पन्नकल ने 1970 में ही तैयार किया था, मार्गदर्शक सिद्धान्तों में, प्रारम्भ से ही, यह कथन किया गया है—

"दण्ड के उद्देश्यों के रूप में, सामाजिक पुनस्सन्निर्माण और पुनर्वासन को कल्याणकारी राज्य में अत्यधिक महत्व प्राप्त होता है। दण्ड का सर्वोच्च उद्देश्य अपराधी का पुनर्वासन करके समाज की संरक्षा करना है...... ।

कारावास और अन्य ऐसे अभ्युपाय जिनका परिणाम अपराधी को बाह्य संसार से काट देना होता है, इस तथ्य के कारण ही पीड़ा देने वाले होते हैं क्योंकि अपराधी से आत्म-अवधारण का अधिकार छीन लिया जाता है। अतः कारागार-पद्धति को, न्यायसंगत पृथक्करण या अनुशासन को बनाए रखने के आनुषंगिक के रूप में बढ़ावा देने के सिवाय, ऐसी स्थिति में अन्तर्निहित यातना को बढ़ावा नहीं देना चाहिए।

इस संस्था को सुधारवादी व्यवहार का केन्द्र होना चाहिए, जिसमें सबसे बड़ा और अपराधी के पुनर्शिक्षण तथा सुधार पर दिया जाएगा। संस्थागत परिवेश और व्यवहार के प्रभावों का उद्देश्य अपराधी में रचनात्मक तब्दीलियां लाना है, जिनका प्रभाव उसकी आदतों, रुख, दृष्टिकोणों पर और उसके सम्पूर्ण जीवन-मूल्यों की स्कीमों पर गहरा तथा स्थायी होता है।"

मैन्युल में जिन विषयों की बाबत बताया गया है, उनमें से एक 'कारागार से छोड़ने की योजना' है। हमें इस सच्चाई को कहने के लिए बहुत दूर जाने की आवश्यकता नहीं है कि प्रत्येक अपराधी का भविष्य होता है, यदि उसे समाज में अवसर दिया जाए, तथा स्वतंत्र व्यक्ति के रूप में, प्रत्येक बन्दी का, बहुत ही अच्छा जीवन हो सकता है परन्तु यह तब जबकि उसके मानसिक अस्तित्व का सृष्टकारी रूप में संवर्धन किया जाए। इस प्रक्रिया का मापदण्ड 14 वर्ष की अवधि का यन्त्रवत् समाप्त होना नहीं है, बल्कि, वैयक्तिक प्रतिक्रिया के साथ-साथ, सुधारवादी क्षेत्रों की मनुष्य बनाने की पद्धति है। इससे यह अर्थ निकलता है कि धारा 433-क के अधीन आजीवन-बन्दियों के लिए 14 वर्ष की अनम्य अवधि मनुष्य में परिवर्तन लाने के सभी अवसरों को समाप्त कर देती है और उनके भीतर अपराध-वृत्ति का बीजारोपण हो जाता है। यह हो सकता है कि 'कारागारों की असफलता' (यह अभी हाल में लिखित एक सक्षम दण्ड वैज्ञानिक ग्रन्थ का शीर्षक है) संसद् को उस समय न खटकी हो जब कि उसने धारा 433-क अधिनियमित की थी या 1978 तक कारागार के सुधार-क्षेत्र में संसद् सदस्यों के बहुमत पर होने वाला गांधीवादी सिद्धान्त का सजीव प्रभाव समाप्त हो गया हो। बहुत ही हल्की इन बातों के सम्बन्ध में हम अनुमान नहीं लगा सकते हैं और हमें विधि की भाषा की परिधि के भीतर ही अपना विनिश्चय देना चाहिए।

41. निश्चित रूप से मनमाने दाण्डिक विधान को अनुच्छेद 14 के अधीन घातक धक्का लगेगा। किन्तु यहां पर जो मुख्य मुद्दा है, वह यह है कि क्या धारा 433-क मनमानेपन या अतर्कसंगति के चरम दोष को संरक्षा प्रदान करती है। हमें यह अवश्य ही स्मरण रखना चाहिए कि संसद् को, विधायी साधन के रूप में, लोगों के ऐसे प्रतिनिधियों के साथ-साथ जो कि उस विनिश्चय में अपनी बुद्धि का योगदान करते हैं, इस बात का हक है कि उसके बारे में प्रारम्भतः यह उपधारणा की जाए कि उसका कृत्य सांविधानिक होता है। जब तक कि कोई अबुद्धिमत्ता से लेकर निरर्थकता, अयुक्तिसंगति, आभासीयता की सीमाओं का उल्लंघन करते हुए तथा तत्प्रकार की बातों से काफी आगे नहीं निकल जाता है, तब तक न्यायालय को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

42. दण्ड-विज्ञान के प्रारम्भ पर न्यायालयों ने जो कुछ भी मत व्यक्त किया था, उससे यह पता चलता है कि उसका उद्देश्य सामाजिक रक्षा है। दण्डादिष्ट करने के तीन प्रयोजन हैं: प्रतिदण्ड देना जिसे कभी-कभी लोक

भर्त्सना भी कहा जाता है, अपभीति जो कि एक दूसरा भयावह रूपभेद है तथा उससे पैवलोवियन प्रभाव का आभास होता है और मानव अधिकारों के हमारे युग में ऐसा पुनर्वासन जो कि अपराधी और समाज की चेतना के स्तर को उठाकर मनुष्य की आवश्यक दिव्यता और अन्तिम पुनरुद्धारणीयता पर आधारित है। फिलहाल इस प्रकार के सिद्धान्तों से अर्थात् 'समाज अपराध को जन्म देता है और अपराधी उसे करता है'; या यह कि 'अपराध सामाजिक अत्याचार का परिणाम है' या यह कि 'दरिद्रता अपराध की जननी है' हम बचें।

43. न्यायिक निर्णय अभिप्रमाणीकृत मार्गदर्शन का काम करते हैं और इसीलिए कुछ प्रोद्धरण हमारे प्रयोजन को सिद्ध कर सकते है। **चार्ल्स सोबराज** बनाम **अधीक्षक, केन्द्रीय जेल,** तिहाड़[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया था—

> "अब यह सुस्थिर हो चुका है, जैसा कि न्यायालयों के अनेक विनिर्णयों में साबित होता है कि निवारण, चाहे वह विनिर्दिष्ट हो या सामान्य, पुनर्वास संस्थागत अभिरक्षा महत्वपूर्ण विचार्य विषय है। जहां कहीं भी सम्भव हो, वहां दयालुता और क्रूरता केवल, वहां जहां कि यह अनिवार्य हो, सुधारात्मक बन्दीगृह की रीति है। जब बन्दी सम्बन्धी नीति ऐसे विधिमान्य उद्देश्य को अग्रसर करती है, तो न्यायालय अनाधिकृत रूप से हस्तक्षेप नहीं करेगा।"

सब मिलाकर जो रुख था, उसे अपराध, न्याय मानक और उद्देश्यों से संबंधित अमरीकी राष्ट्रीय सलाहकार आयोग (अमेरिकन नैशनल एडवाइज़री कमीशन ऑन क्राइम, जस्टिस स्टैण्डर्ड्स एण्ड गोल्स) ने मानक के रूप में इस प्रकार समाविष्ट किया था[2]—

> लगातार दिए गए विनिश्चयों में इस न्यायालय ने यह अभि-निर्धारित किया है कि सरकार का प्रयोजन वैध और सारवान् हो सकता है, तथापि हमारा प्रयोजन ऐसे साधनों द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता जो कि मौलिक दैहिक स्वाधीनताओं को मोटे तौर से उस समय पंगु बना देता है जब कि उद्देश्य अधिक सीमित दायरे में पूरा किया जा सकता है। विधायी न्यूनन के विस्तार को वही आधारिक प्रयोजन सिद्ध करने के लिए कम अधिक कठोर साधनों की रोशनी में अवश्य ही देखा जाना चाहिए।"

---

[1] [1979] 3 उम० नि० प० 376-385=(1978) 4 एस० सी० सी० 104-109.

[2] 'टू सोल्व दि ओल्ड ऐज प्रोब्लम आफ क्राइम'—राजर लैनफीयर, जे० डी० पृ० 19.

इसके भीतर इस न्यायालय ने हीरा लाल मलिक बनाम बिहार राज्य[1] वाले मामले में यह मत व्यक्त किया था—

> "प्रत्येक व्यक्ति की गरिमा और दिव्यता, आत्म मूल्यन तथा सृष्टकारी शक्ति भारतीय लोगों का उच्चतर मूल्य है........।"

पुनः, मोहम्मद गियासुद्दीन बनाम आन्ध्र प्रदेश राज्य[2] वाले मामले में इस न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ ने दण्ड सम्बन्धी सिद्धान्तों पर रोशनी डाली थी—

> "इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अपराध एक रोगविज्ञान संबंधी विपथन है कि अपराधी साधारणतया उससे बच सकता है और कि राज्य को चाहिए कि वह उसका पुनर्वास करे, बजाय इसके कि उससे बदला ले। घटिया संस्कृति का जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक विचारधारा में विकार आता है, प्रतिकार अनुचित असम्यक् अत्याचार न करके उस संस्कृति में सुधार लाने में किया जा सकता है। इसीलिए दण्डशास्त्र में जो दिलचस्पी का विषय है, वह व्यक्ति है और इसका ध्येय समाज के लिए उसे बचाना है। कठोर और वहशी दण्डारोपण इस प्रकार भूतकाल और बीते समय की निशानी है। आज मानव दण्डादेश पर किसी व्यक्ति को नए सिरे से ढालने के रूप में विचार करता है जो कि अपराधी बन चुका है और आधुनिक समाज सामाजिक प्रतिरक्षा के माध्यम के रूप में अपराधी के पुनर्वास के सिलसिले में प्राथमिक तौर पर हाथ बंटाता है। इसलिए हम यह समझते हैं कि चिकित्सा विषयक, न कि आतंकवादी, दृष्टिकोण, हमारे दण्ड न्यायालयों में अभिभावी होना चाहिए, चूंकि व्यक्ति का वहशी बन्दीकरण मात्र उसके मन में क्लेश उत्पन्न कर देता है। जोर्ज बर्नार्ड शा के शब्दों में, यदि आप व्यक्तिगत रूप से प्रतिहिंसापूर्वक दण्ड देते हैं, तो निश्चित रूप से आप उसे क्षति पहुंचाते हैं। यदि आप उसे सुधारना चाहते हैं, तो यह आवश्यक है कि आप उसमें प्रोन्नति लाएं। लोक क्षतियों से उन्नति प्राप्त नहीं कर सकते।"

44. यहां पर हम इस बात पर जोर देते हैं कि परिहार सम्बन्धी स्कीमें अधिक अच्छे व्यवहार के लिए सामाजिक गुण के आन्तरिक सुधार और विकास के लिए अधिक स्वास्थ्यप्रद प्रेरणा देती हैं। जबकि परिहार की

---

[1] [1978] 3 उम० नि० प० 996=(1977) 4 एस० सी० सी० 44-49.

[2] [1978] 3 उम० नि० प० 712-721=(1977) 3 एस० सी० सी० 287-290.

ऐसे सनकें जिनके परिणामस्वरूप हत्यारे के आजीवन कारावास की अवधि अभिरक्षा में की दो या तीन वर्ष की अवधि के बराबर कम हो जाती है, दण्ड-विज्ञानियों के नाम पर बट्टा लगा सकती हैं, ऐसा भय उस दशा में किसी भी समाजशास्त्री को आश्चर्यचकित नहीं कर सकता, यदि मात्र अच्छे व्यावहार, शैक्षणिक प्रयत्न और सुधारवादी सफलता के कारण कोई बन्दी सात या आठ वर्ष का कारावास भुगतने के बाद छोड़े जाने के लिए पर्याप्त परिहार अर्जित कर लेता है।

45. गांधी जी पर छींटाकसी करने में, हम्मूराबी के समक्ष घुटने टेकने में, सुधारवादी मानवता का त्याग करने में तथा जैसे-को-तैसा वाले सिद्धान्त की पशुता का आदी होने में लज्जा आती है। **चर्चिल**[1] ने यह मत व्यक्त किया था—

> "अपराध और अपराधियों के व्यवहार के सम्बन्ध में जनता की मुद्रा और मिजाज़ किसी देश की सभ्यता की सर्वाधिक सफल कसौटियों में से एक है।"

हमारे संविधान की मुद्रा और भावना इस बात को प्रमाणित करती है कि बन्दी के प्रति मनमानी क्रूरता और किसी व्यक्ति के सुधार के प्रति नकारात्मक रुख अनिष्टकारी है। **बचन सिंह** बनाम **पंजाब राज्य**[2] वाले अभी हाल के मामले में मृत्यु की शास्ति की शक्तियों के सम्बन्ध में जो विनिर्णय दिया गया था, उसमें इस उक्त स्थिति को कायम रखा गया है।

46. पिटीशनरों के काउन्सेल ने जो भी दलीलें दी हैं, उनमें से मुख्य दलील यह मानवीय धारण है कि दण्डादिष्ट करने का उद्देश्य अपभीतिकारी यन्त्रणा देना मात्र नहीं है, बल्कि मुख्यतः बन्दी का पुनर्वासन है। मानव-गरिमा जिस पर प्रस्तावना में जोर दिया गया है, दया, जो कि अनुच्छेद 21 में बताई गई उचित प्रक्रिया के विधान में विवक्षित है और मनमाने ढंग से कारावास में रखने सम्बन्धी पशुता की युक्तिहीनता, जिससे अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण होता है, कारावास के शासनतंत्र में सुधारवादी संघटक की मांग करती हैं जिसकी हैसियत सांविधानिक अपेक्षा की होनी चाहिए। हमें इस प्रतिपादन को प्रमाणित करके निर्णय को अधिक लम्बा करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि विद्वान् सालीसिटर जनरल ने, अधिक युक्तियुक्तता के साथ तथा इस

---

1 'सेन्टेन्सिंग एण्ड प्रोबेशन'—नेशनल कालेज आफ दि स्टेट जुडीशियरी, रेनो, नेवादा, यू० एस० ए०, पृ० 68.

2 (1980) 2 एस० सी० सी० 684.

1980(11) eILR(PAT) SC 122

न्यायालय की नजीरों का सम्यक् रूप से ध्यान रखते हुए, इस सम्बन्ध में कोई भी विवाद नहीं उठाया है कि बन्दी का सुधार दण्ड के मुख्य प्रयोजनों में से एक है।

47. यह निष्कर्ष निकालना ही पड़ेगा। ऐसा उपबन्ध जो कि पूर्णतः या सारवान् रूप से आपराधिकता द्वारा लांछित किसी व्यक्ति के पुनर्वासन की संगति का त्याग करता है, अयुक्तियुक्त है। इस बुराई का प्रभाव धारा 433-क पर कैसे पड़ता है ? दलील यह है कि कारावास में 14 वर्ष की अवधि ऐसी लम्बी अवधि होती है जो कि न केवल निरर्थक यातना होती है, बल्कि इस दृष्टिकोण से सुधारवाद का ही अस्वीकरण होता है—वास्तव में, उससे समाज के प्रति शत्रुता की तिक्त भावना को बढ़ावा मिलता है तथा पशुता को और कठोर बनाने के कारण आशापूर्ण मानवतावाद के विपरीत परिणाम निकलते हैं।

48. हमारे समक्ष जिस दलील पर जोर दिया गया है, वह यह है कि धारा 433-क बन्दी के सुधार करने की अत्यावश्यकता के साथ अन्याय करती है। यदि कारागार के भीतर किए गए उसके अच्छे व्यवहार के बदले में ऐसे युक्तियुक्त परिहार करके उसे पुरस्कृत किया जाता, जो कि कौटुम्बिक सम्पर्कों तथा औदार्यपूर्ण परोल द्वारा पोषित और पूर्वानुमेय तथा समय-पूर्व मुक्ति द्वारा विकसित उच्च सामाजिक उत्तरदायित्व से सम्बन्धित है, तो वास का प्रयोजन सिद्ध हो गया होता। यदि यह विधि, अर्थात् इस मामले में धारा 433-क बन्दी के पाश्चिक आचरण पर विचार करने से अयुक्तियुक्त रूप से इनकार करती है और सभी सिद्धदोष व्यक्तियों को, चाहे वे अच्छे हों, बुरे हों या उदासीन हों, निश्चित और मनमानी न्यूनतम कालावधि तक जेल भुगतने के लिए विवश करती है, तो यह ऐसा अतर्कसंगत आदेश है जो कि सुधार के सिद्ध सिद्धान्तों की पूर्णतः उपेक्षा की गई है। निश्चित रूप से, आगे चलने वाला दण्ड-विज्ञानी या भावातीत ध्यानोन्मुख न्यायशास्त्री परिष्कृत दण्डादेश को जेल के संक्षिप्त जीवन के रूप में मानेगा तथा उसके साथ ही कारावास के भीतर और बाहर पुनर्वास सम्बन्धी बातों का विगोपन भी होगा। यह हो सकता है कि वह इस क्रूर अस्तित्वावधि को, जो कि अंधाधुंध रूप से 14 वर्ष के बाद तक चलती रहती है, दण्डविज्ञान सम्बन्धी अज्ञान माने। दण्ड-विज्ञानी विभिन्न प्रक्रियाओं द्वारा और ऐसे महत्वपूर्ण समय पर जब कि मानसिक-नैतिक प्रसामान्यता की, जिसे अन्यथा पुनर्वासन-सूचकांक कहते हैं, न्यायिक-तांत्रिकी की कसौटियां खरी उतरती हैं, कारागार से अपराधी को छोड़कर उसकी सृष्टकारी बुद्धि की सक्रियता पर जोर देते हैं। अनुसन्धान

1980(11) eILR(PAT) SC 122

सम्बन्धी इन परिणामों का अतिक्रमण करना और 14 वर्ष तक के कारावास की कालावधि के लिए आदी होना किसी युक्तिसंगत समर्थन के बिना दण्ड सम्बन्धी अंधविश्वास है और इसी कारण से वह मनमाना है। उसे 20 वर्ष क्यों नहीं होना चाहिए ? या उसे सारे जीवन तक कारावास में क्यों नहीं रहना चाहिए ? राज्य ने कोई भी सामग्री, चाहे वह वैज्ञानिक हो, सांस्कृतिक हो, या अन्य सामग्री हो, यह उपदर्शित करते हुए हमारे विचार के लिए पेश नहीं की है कि यदि हत्यारा कारागार के भीतर कम से कम 14 वर्ष तक नहीं रहता है, तो वह उस समय समाज के लिए खतरा हो जाएगा जबकि उसे छोड़ दिया जाएगा। यदि परपीड़नवाद और प्रभाववाद को विधान के रूप में लाया जाता है, तो भी वह अनुच्छेद 14 और 21 में के, जो कि सर्वोच्च विधि के अंग हैं, सामाजिक विज्ञान के तत्व की पूर्ति नहीं कर सकता।

49. जब कि इस तर्क को हमने समझ लिया है और मानव वास की उपशमनकारी आशा के रूप में कारावास के असंस्थागत अनुकल्प छानबीन करने योग्य हैं, हम सांविधानिकता के ऐसे क्षेत्र में हैं जिसमें कि सिद्धान्त भिन्न हैं।

50. हमें इस बारे में कोई सन्देह नहीं है कि सामाजिक रक्षा की रणनीति के रूप में, बन्दी का सुधार करना भारतीय दण्ड-नीति के सुधार को सूची में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। प्रश्न यह है कि क्या पुनर्वास विषयक उपचार को दण्ड-विज्ञान सम्बन्धी भेषज-संहिता मानते हुए भी इतनी उग्रवादी और मनमानी है कि वह सामाजिक हो जाती है। हम न्यायाधीश के रूप में उतनी दूरी तक नहीं जा सकते, जितनी कि हम जाते यदि हम विधायक होते, हमारा व्यक्तिगत झुकाव चाहे जो कुछ भी क्यों न हो।

51. हमें इस उग्रवादी स्थिति को अस्वीकार करने के दो मुख्य आधार दिखाई पड़ते हैं। पांच न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने (न्यायाधिपति देसाई का का उपर्युक्त मत देखिए) **सुनील बत्रा बनाम दिल्ली प्रशासन**[1] वाले मामले में अपभीति को विधिमान्य दण्डात्मक संघटक के रूप में स्वीकार किया गया है। अतः हत्या जैसे गम्भीरतम वर्ग के अपराधों के लिए 14 वर्ष के न्यूनतम कारावास के अभ्युपाय को जिसको लोमहर्षक अपराधों में वृद्धि का तथा इस तथ्य का, कि इस न्यायालय ने मृत्यु की शास्ति को भी कायम रखा है (यद्यपि वह दुर्लभ मामलों में से दुर्लभतम मामले जैसे कि **बचन सिंह बनाम पंजाब राज्य** तक ही सीमित है[2]), ध्यान रखते हुए त्रासकारी नहीं समझा जा सकता।

---

[1] [1979] 3 उम० नि० प० 407=(1978) 4 एस० सी० सी० 494.

[2] (1980) 2 एस० सी० सी० 684.

कदाचित अपभीति को तथा लोकभर्त्सना को पूर्णतः अपवर्जित करने का समय नहीं आया है। द्वितीय समाजवादी उपचार के लिए भी कारागार में बहुत दिनों तक सुधार की दृष्टि रखने की कभी-कभी आवश्यकता हो सकती है। मनुष्य के ऐसे मस्तिष्क को जो कि अनेक दुर्दशापूर्ण घटनाओं के अनेक आदिम-कालीन दबावों के, अन्य बुरे साथियों के और परिवेश सम्बन्धी अनेक प्रदूषणों के कारण विकृत हो गया हो, तब्दील करना ऐसा जादू नहीं है जो कि तुरन्त किया जा सकता है, बल्कि वह तो धीमी प्रक्रिया है—यह मानते हुए कि सुधार करने सम्बन्धी रणनीतियां कारागारों में अभिज्ञता के साथ उपलभ्य हैं; यह ऐसी संसिद्धि है जिसकी इच्छा हार्दिक रूप से की जाती है, किन्तु जो बुरी तरह से, किन्तु सफलतापूर्वक मौजूद नहीं है।

52. हम इस बात से सहमत हैं कि दण्ड विज्ञानियों, उच्च-शक्ति-प्राप्त आयोगों द्वारा किए गए अनेक अध्ययनों तथा न्यायालय के निर्णयों से इस असत्य का सत्य स्पष्ट हो गया है : यदि कोई एक बार हत्यारा हो जाता है, तो वह सदैव हत्यारा रहता है और इसी कारण से, यदि उसे (कारावास से) पहले ही छोड़ दिया जाएगा तो उससे वह अनेक लोगों की हत्याएं करेगा।' समाज विज्ञानियों को राबर्ट इंगरसोल की इस तीखी टिप्पणी को अवश्य ही स्वीकार करना चाहिए : "विश्व के इतिहास में, ऐसे व्यक्ति को जो कि तीव्रता से आगे-आगे बढ़ता चला जाता है, सदैव धर्मग्राही कहा गया है। हमें, न्यायाधीश के रूप में विधान बनाने की कोई भी शक्ति प्राप्त नहीं है, किन्तु अन्तरीक्षण करने की शक्ति प्राप्त है। वर्तमान स्थिति में तथा समाज की प्रकृति को देखते हुए, हमें उस विचार से ही सन्तोष कर लेना पड़ेगा कि यदि व्यक्तिगत राय को एक तरफ रख दिया जाए, किसी हत्यारे के लिए कारागार में बहुत लम्बी अवधि का यह कहकर तिरस्कार नहीं किया जा सकता कि वह इतनी क्रूर है जिससे कि उसे बिल्कुल मनमानी कहा जा सकता है और उससे आजीवन बन्दियों और दूसरे आजीवन बन्दियों के बीच तर्कसंगत वर्गीकरण का अतिक्रमण होता है तथा वह इतना अधिक अमानवीय है जिससे कि वह इतना अतर्कसंगत हो जाता है कि उसे अधिकारातीत होने के आधार पर अभिखण्डित किया जा सकता है। इस दलील से भी असांविधानिकता की व्याख्या नहीं हो सकती कि यदि दण्ड का तत्व मौजूद न हो, तो उससे यह बात न्यायोचित नहीं ठहरती है कि किसी कैदी को इस धरती से अलग करके कारावास में उस दशा में भी बन्द रखा जाए यदि वह अपना आचरण ही उपलब्धियों और सिद्ध प्रसामान्यताओं के कारण स्वतंत्रकारी होने के लिए उपयुक्त हो गया हो। और परिवर्तित तथा अस्त-व्यस्त व्यक्ति पर 14 वर्ष

1980(11) eILR(PAT) SC 122

के (कारावास की) न्यूनतम अवधि का समान रूप से अधिरोपित करना कारावास के भीतर उद्धार करने की निर्दयतापूर्ण उपेक्षा है। फिर भी सांविधानिक कठिनाई को दूर करने की दृष्टि से, काफी अधिक सामग्री, अनुसन्धान के परिणामों और विशेषज्ञों की रिपोर्टों की आवश्यकता है। यह कैसे कहा जाए कि किस व्यक्ति का पूणतः पुनर्वास हो चुका है और किसका नहीं हो चुका है, जब तक कि आप **रिहैब्लीटेशन इन्डैक्स**[1] (पुनर्वास सूचकांक) का अवलम्ब नहीं लेते ? इस समय हमारे पास ऐसे सिद्धान्त और ऐसे परीक्षण मौजूद हैं जिन्हें समाजशास्त्रियों के निश्चितता सम्बन्धी प्रमाणपत्रों की प्रतीक्षा है।

53. उदाहरण के लिए, गहन शिथिलन सम्बन्धी उपचारों और ध्यान विषयक ऐसी तकनीकियों के बारे में, जिनकी खोज वैज्ञानिक उपकरणों, भली-भांति व्याप्त उच्च स्तर के परीक्षणों, से की गई हो, चाहे वे तान्त्रिकीय हों या मनोवैज्ञानिक, यह दावा किया जा सकता है कि उन्होंने सफलता प्राप्त कर ली है और विज्ञान के संसार को पुनर्वास-सूचकांक समर्पित कर दिया है। परीक्षणों की इस जटिलता को जिसके प्रति निर्देश "क्रिमिनॉलाजी एण्ड कांशियसनेस सीरीज़ I" शीर्षक प्रकाशन में से प्राप्त किया गया है (जिस का विकास महर्षि यूरोपियन रिसर्च यूनिवर्सिटी ने सफलतापूर्ण पुनर्वास के वैज्ञानिक रूप से मानक अध्युपायों के अनुसार किया है) इतनी विश्वसनीयता प्राप्त हो गई है कि उन्हें कुछ भारतीय कारागारों में मान्यता दी जानी चाहिए। अनेक अविश्वसनीय बातें हैं और संशयवाद इसलिए अच्छा होता है, क्योंकि वह 'बुद्धि की शुचिता' है। किन्तु अविश्वास करने वाले रूढ़िवादी लोगों से कोई भी व्यक्ति जॉन डेवी के समान यह कह सकता है: "विज्ञान में प्रत्येक बड़ी प्रगति कल्पना की नवीन साहसिकता का परिणाम होती है"। किन्तु जबकि न्यायालय सांविधानिकता को कसौटी पर कस रहे होते हैं, उस समय तक उन्हें प्रतीक्षा करनी पड़ती है जब तक कि स्थापन किसी सीमा तक उसे स्वीकार नहीं कर लेता। अतः, हम न्यायालय के रूप में, यह कहने की स्थिति में नहीं हैं कि हत्यारे के लिए कम से कम 14 वर्ष की अवधि मनमानी, अप्रायिक रूप से क्रूर और असांविधानिक है। हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण नहीं हुआ है। अनुच्छेद 14 पर आधारित दूसरी दलील के संबंध में भी संक्षेप में विचार व्यक्त किया जा सकता है, यद्यपि उससे हमारा आत्म-नियंत्रण नहीं खोया है। जहां तक धारा 433-क के पदों का संबंध है, वह आजीवन कारावास के दो वर्गों को ही लागू होती है। इस उपबंध का

---

[1] 'फ्रीडम बीहाइन्ड बार्स'—क्रिमिनालॉजी एण्ड कांशियसनैस सीरीज 1, 1979, महर्षि यूरोपियन रिसर्च यूनिवर्सिटी, प्रैस पब्लिकेशन, पृष्ठ 73.

1980(11) eILR(PAT) SC

वास्तविक सार यह है कि धारा 433-क में विनिर्दिष्ट किए गए दो विनिर्दिष्ट प्रवर्गों में बंदी को, वस्तुतः, कारावास की उतनी न्यूनतम अवधि भुगतनी होगी जितनी कि उसमें दी गई है। लगभग 41 अन्य ऐसे अपराध हैं जिनके अन्तर्गत हत्या करने का प्रयत्न, ऐसी हत्या जो मानव वध की कोटि में नहीं आती है, घोर उपहित, डकैती और न्यासभंग आते हैं, जिनमें आजीवन दण्डादेश अधिकतम है। किन्तु दण्ड संहिता के निर्माताओं ने मुख्यतः अपराध की गम्भीरता के आधार पर अधिकतम दण्डादेशों का वर्गीकरण किया है। उसी ढंग से, जहां कि भयावह अपराध किया गया है, दण्ड संहिता में अधिकतम दण्ड के लिए मृत्यु की शास्ति विहित की गई है। उसकी सांविधानिकता पर जो आक्षेप किया गया है, उसे इस न्यायालय ने **बचन सिंह** बनाम **पंजाब राज्य**[1] वाले मामले में अभी हाल में ही अस्वीकृत कर दिया है। न्यायालयों ने मामलों के जिस मुख्य समूह में आजीवन कारावास का दण्डादेश वस्तुतः अधिरोपित किया है, वह ऐसे प्रवर्ग से सम्बन्धित है जिसमें दण्ड देने के लिए विकल्प मौजूद रहता है, जहां कि न्यायालय को मृत्यु की शास्ति या आजीवन कारावास अधिरोपित करने का उत्तरदायित्वपूर्ण विवेकाधिकार प्राप्त होता है और वस्तुतः वह केवल आजीवन कारावास का ही दण्डादेश देता है। ऐसे मामलों में भी जिनमें न्यायालय किसी सिद्धदोष व्यक्ति को मृत्यु का दण्डादेश देता है, प्रायः समुचित सरकार, धारा 433-क के बल पर उस घातक दण्डादेश को कम करके, आजीवन कारावास में सम्परिवर्तित कर देती है। धारा 433-क मामले के इन वर्गों का प्रवर्गीकरण पृथक् से करती है। जहां कि अपराध इतना गम्भीर होता है जिससे कि सम्भावित दण्डादेश के रूप में मृत्यु की शास्ति दी जा सकती है, वहां संसद्, अपनी बुद्धि के अनुसार, यह मत अपनाती है कि सुधारवादी न्यायिक दण्डादेश द्वारा या कार्यपालिका द्वारा किए जाने वाले कानूनी लघूकरण के जरिए उस दण्डादेश की कठोरता का मूल्यांकन नहीं किया जाना चाहिए जो कि स्पष्टतः कम गम्भीर प्रकार के अपराधों के लिए दिए जाने वाले आजीवन दण्डादेश के समान हो जिनमें स्वयं विधि ने आजीवन कारावास को ही अधिकतम दण्डादेश के रूप में, न कि मृत्यु की शास्ति को अधिक कठोर अनुकल्प के रूप में नियत किया है। तर्क प्रांजल है, यद्यपि दाण्डिक विचार को ध्यान में रखते हुए उसकी युक्तियुक्तता संदिग्ध है। इसके पहले हमने न्यायिक अवरोध की सीमाएं बताई हैं और, जैसा कि इस समय सलाह दी गई है, हमारा समाधान इस बारे में नहीं हुआ है कि यह वर्गीकरण ऐसे अयुक्तिसंगत अन्तर पर आधारित है जिसका सम्बन्ध सामाजिक रक्षा के

[1] (1980) 2 एस० सी० सी० 684.

दाण्डिक उद्देश्य से है। यहां पर यह कहना पर्याप्त है कि यदि संसद् की इच्छा का सम्यक् सम्मान किया जाए, तो इस वर्गीकरण की आलोचना यह कहकर नहीं की जा सकती है कि वह इतना सनकपूर्ण है कि जिससे कि उसको अनुच्छेद 14 के साथ पठित अनुच्छेद 13 का घातक परिणाम लागू हो सके। विधि और जीवन एक दूसरे से सम्बद्ध होते हैं, न कि निरंकुश। मानवीय धारणाओं के अलावा, काउन्सेल ने यह दर्शित करने के लिए कि कारावास का लम्बा जीवन ऐसे स्थान पर रह जाता है जहां से लौटना सम्भव नहीं होता और वह अयुक्तियुक्त है, कोई ऐसी सामग्री प्रस्तुत नहीं की है जिसका ध्यान समाजविज्ञानोन्मुख न होकर, विधिक रहा है। इस समय जो सामग्री हमारे समक्ष पेश की गई है, उसके आधार पर हम धारा 433-क को इसलिए अभिखण्डित नहीं कर सकते क्योंकि उसका वर्गीकरण सनकपूर्ण है। किसी समय जबकि मानव-विज्ञान काफी प्रगति कर लेगा और असंस्थागत अनुकल्पों का पूरी तरह से विकास हो जाएगा, उस समय 14 वर्ष के कारावास के उपचार में संसद् का जो विकास है, वह तब्दील हो सकता है या इस आधार पर उसे चुनौती दी जा सकती है कि वह अवैज्ञानिक रूप से विश्वसनीय तथा अंधविश्वासपूर्ण रूप से क्रूर है। किन्तु उसके लिए अभी बहुत समय है और भविष्यवाणी करना न्यायालयों की विशेषता नहीं होती। भविष्य के गर्भ में, जैसे कि कंस के लिए कृष्ण थे, वर्तमान के विश्वास के लिए घातक अपशकुन हो सकता है। हम बर्ट्रेण्ड रसेल के संशयवाद के इन शब्दों[1] के साथ संतुष्ट हो सकते हैं—

> "औदार्यपूर्ण दृष्टिकोण का सार इस बात में नहीं होता कि कौन-से मत अपनाए जाते हैं, बल्कि इसमें होता है कि वे मत कैसे अपनाए जाते हैं : वे रूढ़िवादी ढंग से उन्हें अपनाए जाने के स्थान पर अनन्तिम रूप से अपनाए जाते हैं; और इस चेतना के साथ अपनाए जाते हैं कि किसी भी समय नए साक्ष्य के परिणामस्वरूप उन्हें त्यागना पड़ सकता है। इसी प्रकार से विज्ञान के क्षेत्र में मत कायम किए जाते हैं जो कि उस रीति के विपरीत हैं जिससे धर्म-दर्शन में वे अपनाए जाते हैं।"

54. जिन मुख्य दलीलों पर अधिक विचार करने की आवश्यकता है, उन पर हम अब विचार कर सकते हैं। वे तीन हैं, और कारावास से बन्दियों के मुक्त होने की दृष्टि से, उन तीनों के परिणाम महत्वपूर्ण हैं। पहले का

---

[1] अनपापुलर एसेज, फिलासफी एण्ड पॉलिटिक्स.

सम्बन्ध धारा 433-क की 'भविष्यलक्षिता' (यदि मोटे तौर से ऐसे कहा जाए तो) या अन्यथा से है। हमने पहले ही यह अभिनिर्धारित कर दिया है कि अनुच्छेद 20(1) का अतिक्रमण नहीं हुआ है, किन्तु प्रस्तुत मुद्दा यह है कि क्या सही अर्थान्वयन करने पर, वे लोग जिन्हें धारा 433-क के प्रवृत्त होने के पूर्व दोषसिद्ध किया गया है, आज्ञापक सीमा द्वारा आबद्ध हैं। यदि ऐसे सिद्ध-दोष व्यक्ति उसकी परिधि के बाहर हैं, तो उनके मामलों पर परिहार स्कीमों और 'लघूकरण-दण्डादेश' सम्बन्ध विधियों के अधीन विचार किया जाना चाहिए। दूसरा अध्युपाय अनुच्छेद 72 और 161 में अभेद्य रूप से उपबन्धित 'क्षमा-अधिकारिता', यदि हम उसे मोटे तौर से उस प्रकार कहें, और उसके सम्बन्ध में धारा 433-क के प्रभाव पर मुख्यतः आधारित है। परिहार करने की शक्ति सांविधानिक शक्ति है और किसी ऐसे विधान को अवश्य ही असफल होना पड़ेगा जो कि उसकी परिधि को कम करना और उसकी प्रक्रिया को पंगु बनाना चाहता है। तीसरी बात यह है कि इस पूर्ण शक्ति का प्रयोग सरकार की, चाहे वह राज्य की हो या केन्द्र की, अभिरुचि, इच्छा या अनिच्छा पर नहीं छोड़ा जा सकता है, किन्तु उसे उसी प्रकार युक्तिसंगत, सुसंगत और सुधारवादी होना चाहिए जैसे कि गणतंत्र में सभी लोक शक्ति का प्रयोग किया जाना आवश्यक है। इस आधार पर, हमें विभिन्न परिहार स्कीमों और लघूकरण-दण्डादेशनों से सम्बन्धित परियोजनाओं के विद्यमान होने के मूल्य की अनवीक्षा और छान-बीन करनी होगी; हमें धारा 433-क के ऊपर उनकी सर्वोच्चता की कसौटी पर न कसकर 14 बन्धित वर्षों के कष्ट के बिना आजीवन दण्डादेशों का परिहार करने की विस्तृत और फायदाप्रद शक्ति को नियंत्रित करना पड़ेगा।

55. अब हम प्रथम मुद्दे पर विचार करेंगे। यह पुरानी विधि है कि सभ्य दण्ड-न्यायशास्त्र बाद वाली किसी विधि द्वारा अधिक भारी दुख-भोग के पूर्वलक्षी अधिरोपण को वर्जित करता है। मामूली तौर से, किसी दण्ड-विधान का निर्वचन इस प्रकार से किया जाना चाहिए कि वह भविष्यलक्षी है। हमारा अभिप्राय अनुच्छेद 20(1) के क्षेत्र में हस्तक्षेप करना नहीं है, जिसके सम्बन्ध में हम पहले ही अपना मत व्यक्त कर चुके हैं। जो बात करने का हमारा अभिप्राय है, वह धारा 433-क में प्रयुक्त विशेषण का इस प्रकार अर्थान्वयन करना है जिससे कि उससे स्वाभाविक परिणाम, मानवीय निष्कर्ष और न्यायोचित अधिरोपण की बात स्पष्ट हो जाए। जहां कि किसी भी सिद्धदोष व्यक्ति को जिसे न्यायिक दण्डादेश दिया गया है, यह दलील देने का कोई भी निहित अधिकार नहीं है कि शास्ति हल्की कर दी जानी चाहिए और जो विधि शास्ति को पूरी तरह से लागू किए जाने के लिए विवश करती है, वह

1980(11) eILR(PAT) SC 122

उसको पूरी तरह से लागू नहीं की जा सकती, वहीं न्यायालय का यह कृत्य है कि वह उस समय औदार्यपूर्ण अर्थान्वयन करे जब कि वह सामान्य अनुक्रम में किसी दाण्डिक कानून के सम्बन्ध में विचार कर रहा हो। मानवीय दृष्टिकोण से प्रेरित यह सिद्धान्त, जो कि कतिपय अत्यन्त समाज-विरोधी प्रवर्गों को लागू नहीं होता है, धारा 433-क को उचित रूप से लागू किया जा सकता है। [इस का आधार यह है कि विद्यमान विधिक परिपाटियों के आधार पर सिद्धदोष नागरिकों की (कारावास से) मुक्ति प्राप्त करने की प्रत्याशाओं पर पाश्चिक विधान या वैधानिक कार्यवाही द्वारा तब तक पानी नहीं फेरना चाहिए जब तक कि उसकी भाषा सन्देह से परे न हो]। अर्थ को अभिनिश्चित करने में मामूली तौर से जो उदारता बरती जाती है, वह स्वाधीनता के पक्ष में वहां रहती है जहां कि स्वतन्त्रता से वंचित करने की अवधि विवाद्य होती है। संक्षेप में, अन्य बातों के समान रहते हुए, किसी दाण्डिक कानून में सन्देह का फायदा नागरिक को दिया जाना चाहिए। इस आरम्भिक सतर्कता के साथ हम इस धारा को पढ़ सकते हैं: "जहां किसी व्यक्ति की दोषसिद्धि पर उसको... आजीवन कारावास का दण्डादेश दिया गया है.........वहां ऐसा व्यक्ति कारावास से तब तक नहीं छोड़ा जाएगा जब तक कि उसने 14 वर्ष का कारावास पूरा न कर लिया हो।" यदि निश्चितार्थता-प्रेमी वैयाकरण (क्रिया के) काल के यथार्थ रूप के अनुसार उसे लागू करता है, तो वह (क्रिया के) पूर्ण भूतकाल का उपयोग करने के लिए प्रारूपकार की गलती निकाल सकता है। इसके अलावा, इस खण्ड का स्पष्ट अर्थ यह है कि "है" से "है" अभिप्रेत है और इसी कारण से यदि किसी व्यक्ति को धारा 433-क के प्रवृत्त होने के बाद आजीवन कारावास का दण्डादेश दिया गया है, तो ऐसा दण्डादेशिती उसमें उपवर्णित 14 वर्ष की शर्त पूरी करने के पूर्व नहीं छोड़ा जाएगा। यदि यही बात और निश्चितार्थता के साथ प्रस्तुत की जाए, तो ऐसा व्यक्ति जिसे धारा 433-क के प्रवृत्त होने के पूर्व दोषसिद्ध किया गया है, इस उपबन्ध की परिधि के बाहर हो आता है और वह ऐसे फायदे प्राप्त करेगा जो कि धारा 433-क को अध्याय 32 में सम्मिलित किए जाने के पूर्व उसे प्रोद्भूत होते थे। इस उपबन्ध में जो दूसरा खण्ड है, उससे लघूकरण के ऐसे मामलों को जो कि पहले ही सम्पूरित किए जा चुके हैं, आज्ञापक न्यूनतम कालावधि लागू करने की बात ध्वनित होती है और वह इस प्रकार है: जहां किसी व्यक्ति को दिया गया मृत्युदण्डादेश आजीवन कारावास के रूप में, धारा 433 के अधीन लघूकृत किया गया हो.........वहां ऐसा व्यक्ति कारावास से तब तक नहीं छोड़ा जाएगा जब तक कि उसने 14 वर्ष का कारावास पूरा न कर लिया हो।" प्रत्यक्षतः, प्रारूपकार वैयाकरण नहीं होता। वह अति-उत्कृष्ट

हुए बिना, क्रिया के कालों का प्रयोग करता है। हमारा समाधान हो गया है कि बाद वाले खण्ड से भी मात्र यह अभिप्रेत है कि यदि मृत्यु के दण्डादेश को इस धारा के प्रवृत्त होने के बाद लघूकृत किया गया है, तो ऐसा व्यक्ति तब तक नहीं छोड़ा जाएग जब तक कि उसमें दी गई शर्तों का अनुपालन न कर दिया गया हो। 'है' और 'हो' ऐसे शब्द नहीं हैं जिन पर इस धारा में व्याकरण के सिद्धान्त के अनुसार पर्याप्त रूप से विचार किया जाना है और इसी कारण से क्रिया के वर्तमान काल और पूर्ण वर्तमान काल पर जो अत्यधिक जोर दिया गया है, वह स्पष्ट रूप से सूचक नहीं हो सकता। साधारण दाण्डिक कानूनों का अर्थान्वियन करने में उनसे सम्बन्धित साधारण निमय इस मामले को भी लागू होना चाहिए। एक दूसरी स्थिति में, इस न्यायालय ने बौशर पियरे एण्ड्रे बनाम अधीक्षक, केन्द्रीय कारावास, तिहाड़ वाले मामले में "दण्डादिष्ट किया गया है" अभिव्यक्ति के अभिप्राय का निर्वचन करते हुए यह अभिनिर्धारित किया था[1] कि "इस खण्ड की भाषा भविष्यलक्षिता के सम्बन्ध में अस्पष्ट है। इससे निश्चित रूप से यह अर्थ निकलता है कि प्रत्येक ऐसा व्यक्ति जिसे दण्डादेश देने वाले न्यायालय ने 18 दिसम्बर, 1978 से पूर्व दोषसिद्ध किया है, परिहार-परियोजना या लघूकरण दण्डादेश से सम्बन्धित परियोजना से उसको प्रोदभूत होने वाले फायदों का हकदार इस प्रकार होगा मानो कि धारा 433-क उसके रास्ते में बाधक न हो। इस धारा में किसी व्यक्ति की "दोषसिद्धि" शब्द का प्रयोग किया गया है और इस सन्दर्भ में उससे दण्डादिष्ट करने वाले न्यायालय द्वारा की गई "दोषसिद्धि" अभिप्रेत है; क्योंकि उसी ने उसकी दैहिक स्वाधीनता से उसे वंचित करने के लिए कारावास की अवधि निश्चित की थी।

56. हम एक असंगति के प्रति सचेत हैं और इसीलिए हमें उसको समाप्त करने के लिए अवश्य ही व्यवस्था करनी चाहिए। यदि विचारण न्यायालय दोषमुक्त कर देता है और उच्चतर न्यायालय दोषसिद्ध करता है और ऐसा होता है कि दोषमुक्ति धारा 433-क के प्रवृत्त होने के पूर्व होती है और दोषसिद्धि उसके बाद होती है, तो क्या यह हो सकता है कि सिद्धदोष व्यक्ति को धारा 433-क की भूतलक्षिता के तथा पारिणामिक रूप से उसके लागू न होने के फायदे से मात्र इसलिए वंचित हो जाएगा क्योंकि वह अपने दुर्भाग्य से प्रारम्भ में ही दोषमुक्त कर दिया गया था। हम समझते हैं कि ऐसा नहीं है। जब कोई व्यक्ति अपील में दोषसिद्ध किया जाता है, तो उससे यह अर्थ निकलता है कि अपील न्यायालय ने अपनी शक्ति का प्रयोग मूल न्यायालय

[1] [1975] 1 एस० सी० आर० 192-195.

के स्थान पर किया है, और अपराध, दोषसिद्धि तथा दण्डादेश विचारण न्यायालय के निर्णय के स्थान पर प्रतिस्थापित कर दिए जाने चाहिए तथा उसके निर्णय की तारीख से उनका प्रभाव पूर्वलक्षी होगा। अपील न्यायालय द्वारा की गई दोषसिद्धि का सम्बन्ध विचारण न्यायालय के अभिमत की तारीख से होना चाहिए और उसे उसका स्थान लेना चाहिए। इस दृष्टि से, यदि अपील न्यायालय धारा 433-क के प्रवृत्त होने के पूर्व दोषमुक्ति संबंधी पहले वाले आदेश को उलट देता है, किन्तु अपील मंजूर कर लेता है और अभियुक्त को धारा 433-क के प्रवृत्त होने के बाद दोषसिद्ध कर देता है, तो ऐसा व्यक्ति उस आधार पर जो हम स्पष्ट कर चुके हैं, धारा 433-क के पहले अभिभावी परिहार संबंधी पद्धति का फायदा प्राप्त करने का भी हकदार होगा। अपील, मूल निर्णय के प्रतिस्थापन के रूप में, न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय की निरन्तरता है।

57. अब हम दूसरी दलील पर विचार कर सकते हैं जिसमें संविधान के अधीन परिहार संबंधी शक्ति और धारा 433-क के सम्बन्ध में उसके प्रयोग के परिणामों के बारे में कहा गया है। किसी का भी यह पक्षकथन नहीं है—वास्तव में इस प्रकार की दलील की सुनवाई की भी नहीं जा सकती कि अनुच्छेद 72 और 161 के उपबन्धों पर धारा 433-क के उपबन्ध अभिभावी होंगे। कुली ने ठीक तौर से वह उपदर्शित किया है—'जहां कि क्षमा करने की शक्ति अनन्यतः सर्वोच्च कार्यपालक में निहित होती है, वहां ऐसी विधि जो उस शक्ति को निर्बन्धित करती है, असांविधानिक होती है।'[1] शक्ति का प्रयोग करने में सुविधाजनक बनाने वाले नियमों का आधार भिन्न होता है। संविधान सर्वोच्च विधि है और किसी भी विधान को, चाहे वह संसद् द्वारा ही क्यों न बनाया गया हो, उसके समक्ष झुकना ही पड़ेगा। उन दोनों अनुच्छेदों के विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है; और न ही उस शाही परमाधिकार के ऐतिहासिक अवशेष के बारे में कुछ कहने की आवश्यकता है, जिसे इंग्लैण्ड के विभिन्न कानूनों के जरिए भारत में स्थान मिल गया है और अन्ततः जिसका विकास क्षमा की उस शक्ति के रूप में हुआ है जो राष्ट्रपति और राज्यपाल में निहित है और जो सारवान् रूप से अतिव्यापन सीमा तक तथा समवर्ती रूप से उन्हीं के द्वारा प्रयोज्य होती है।

58. प्रस्तुत उपबन्ध (धारा 432 और 433) 1898 की पहली वाली संहिता (की धारा 401 और 402) से शाब्दिक रूप से मिलती-जुलती

---

[1] कुलीज कांस्टीट्यूशनल लिमिटेशन खण्ड I, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ 218.

हैं और उन से उनका निकट का सम्बन्ध है। उसी प्रकार से आज के सांविधानिक उपबन्ध भारत शासन अधिनियम, 1935 में भी मौजूद थे। निस्संदेह, इंग्लैण्ड की सांविधानिक विधि में, सम्राट, होम सेक्रेटरी के माध्यम से कार्य करते हुए, दयालुता के परमाधिकार का प्रयोग करता है। जहां कि शक्ति से सम्बन्धित उपबन्ध हमारे संविधान के अधीन भी वही है, वहीं उसका स्रोत और बल इसी कारण से कृत्य करने की मुख्य बातें और उत्तरदायित्व भिन्न हैं। कुछ आगे चलकर हम इस पहलू की जांच करेंगे। ऐसा कहना पर्याप्त है कि अनुच्छेद 72 और 161 का स्रोत भारत शासन अधिनियम, 1935 में खोजा जा सकता है। केन्द्रीय विधि आयोग ने **रामा वाले मामले**[1] पर आधारित कतिपय मत व्यक्त किए हैं जो कि इस प्रभाव के हैं कि क्षमा करने का प्रभाव न्यायिक दण्डादेश में हस्तक्षेप करना नहीं होता, बल्कि उसके निष्पादन में कांट-छांट करना है। क्षमा-न्यायशास्त्र की इस शाखा के सम्बन्ध में कोई भी विवाद नहीं है। जिस बात पर जोर दिया गया है, वह यह है कि धारा 433-क पुरःस्थापित करके, धारा 432 को कतिपय वर्गों के आजीवन बन्दियों के सम्बन्ध में स्थायी रूप से पंगु बना दिया गया है और धारा 433(क) को निष्प्रभाव कर दिया गया है। चूंकि धारा 432 और 433(क) कानूनी अभिव्यक्तियां है और उनमें सांविधानिक शक्ति के काम करने का ढंग दिया गया है, इसीलिए धारा 433-क अप्रभावी है, क्योंकि वह धारा 432 और 433(क) के प्रवर्तन से विचलित होती है, जो कि संविधान के अधीन क्षमा-शक्ति की, जैसी कि वे हैं, विधायी प्रतिनिधि हैं। इस सम्बन्ध में काउन्सेल ने जो दलीलें पेश की हैं, उनसे हमारा समाधान नहीं हुआ है।

59. यह स्पष्ट है कि ऊपर से देखने से दो शक्तियां, एक सांविधानिक और दूसरी कानूनी सहविस्तारी हैं। दो बातें समरूप हो सकती हैं किन्तु एक नहीं हो सकतीं। निश्चित रूप से यही अन्तर है। हम इससे सहमत नहीं हो सकते कि ऐसी शक्ति जो कि संहिता का परिणाम है, की समानता संघ और राज्य के सर्वोच्च कृत्यकारियों में संविधान द्वारा निहित किए गए उच्च परमाधिकार से की जा सकती है। स्रोत भिन्न है, उसका सार भिन्न है, आधार भिन्न है, यद्यपि दोनों साथ-साथ समान रूप से चल रहे हैं। हम यह समझते हैं कि इन दोनों शक्तियां के समान होने का तो प्रश्न ही नहीं है, और स्पष्टतः सांविधानिक शक्ति 'अछूती' और 'अनुपगम्य' है तथा उसमें साधारण विधायी प्रक्रियाओं के विपर्यास के दोष नहीं हो सकते। अतः

---

[1] [1961] 2 एस० सी० आर० 133.

धारा 433-क को इस आधार पर अविधिमान्य नहीं ठहराया जा सकता कि वह अनुच्छेद 72 और 161 का अप्रत्यक्ष रूप से अतिक्रमण करती है। यह संहिता जो कुछ देती है, वह उसे ले भी सकती है और इसी कारण धारा 432 और 433(क) पर जो प्रतिबन्ध लगाया है, वह संसद् की विधायी शक्ति के भीतर है।

60. फिर भी हमें अनुच्छेद 72 और 161 की सांविधानिक हैसियत को याद रखना चाहिए और दोनों पक्षों का ही आधार यह है कि राज्यपाल या राष्ट्रपति की क्षमा करने की शक्ति पर धारा 433-क का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता है और न ही पड़ सकता है। इस तर्क का आवश्यक परिणाम यह है कि धारा 433-क के होते हुए भी राष्ट्रपति और राज्यपाल पूर्वोक्त अनुच्छेद के अधीन लघूकरण और (कारावास से) छोड़ने की शक्ति का प्रयोग करना जारी रखे हुए हैं।

61. क्या हम उसी चौराहे पर पुनः वापस आ गए हैं? क्या संसद् ने औपचारिक विजय प्राप्त करके, किन्तु वास्तविक रूप से पराजित हो कर विधायी शक्ति का व्यर्थ ही प्रयोग किया है? उत्तर 'हां' और 'नहीं' है। उत्तर 'हां' क्यों है?—इसलिए क्योंकि राष्ट्रपति प्रतीक रूप में होता है। केन्द्रीय सरकार एक वास्तविकता है तथा राज्यपाल भी औपचारिक मुखिया होता है और वह कार्यपालक शक्तियों का मात्र खजाना होता है, किन्तु वह मंत्रिपरिषद् की सलाह पर तथा उसके अनुसार कार्य करने के सिवाय कार्य करने में असमर्थ होता है। निष्कर्ष यह है कि राज्य सरकार, चाहे राज्यपाल उसे पसन्द करे या नहीं, सलाह दे सकती है, अनुच्छेद 161 के अधीन कार्य कर सकती है, और राज्यपाल उसकी सला से आबद्ध होता है। इस प्रकार लघूकरण और (कारावास से) छोड़े जाने की कार्रवाई सरकार के विनिश्चय के अनुसरण में की जा सकती है और आदेश राज्यपाल के अनुमोदन के बिना भी जारी किया जा सकता है, यद्यपि कारबार के नियमों के अधीन और सांविधानिक सौजन्य के तौर पर, यह बाध्यकारी है कि राज्यपाल के हस्ताक्षर से ही क्षमा, लघूकरण या (कारावास) से छोड़ने की कार्रवाई प्राधिकृत की जानी चाहिए। राष्ट्रपति के सम्बन्ध में भी स्थिति सारवान् रूप से वही है। न तो राष्ट्रपति को और न ही राज्यपाल को यह अधिकार प्राप्त है कि वह स्वतन्त्र रूप से कोई विनिश्चय करे या अपनी इच्छानुसार किसी को छोड़ने का या किसी को छोड़ने से इनकार करने का निदेश दे। इंग्लैण्ड की पद्धति में यह बात मौजूद है कि मंत्रिमण्डल शासन करता है और सम्राज्ञी भी राज्य करती है। हमारी पद्धति में बुनियादी तौर से अत्यधिक गहराई के साथ

बद्धमूल होने के कारण, विद्वान् सालिसिटर जनरल ने कोई भी गम्भीर प्रतिवाद नहीं किया क्योंकि मूल बातों को निश्चित रूप से समझने के परिणामस्वरूप उसने इस प्रतिपादन का प्रतिवाद नहीं किया कि राष्ट्रपति और राज्यपाल, मूल पाठ की शब्दावली में वे चाहे जितने भी ऊंचे क्यों न हों, आचारविहित कोमल अभिव्यक्ति मात्र हैं, जो कि मंत्रिपरिषद् की सलाह पर और मात्र उसकी सलाह पर ही कार्य करते हैं, और जिन्हें शक्ति का सीमित क्षेत्र ही प्राप्त होता है। यह विषय इस संविवाद के परे हो गया है कि क्योंकि इस न्यायालय ने **शमशेर सिंह और एक अन्य बनाम पंजाब राज्य**[1] वाले मामले में प्राधिकृत रूप से विधि अधिकथित कर दी है। इसलिए हम अनुच्छेद 367(1) और साधारण खण्ड अधिनियम, 1897 की धारा 3(8)(ख) और 3(60)(ख) के प्रति निर्देश किए बिना भी इस बात से सहमत हैं कि अनुच्छेद 72 और 161 के अधीन शक्तियों के प्रयोग के मामले में हमारी सांविधानिक युक्ति में, दोनों सर्वोच्च पदाधिकारी मंत्रियों की सहायता और सलाह से, न कि अपने ही निर्णय के आधार पर, कार्य करते हैं और उन्हें कार्य करना चाहिए। 42वें संशोधन के पश्चात्, अनुच्छेद 74 ने सभी अनुमानों को समाप्त कर दिया है और उसके अनुपालन के लिए बाध्य किया है। राज्यपाल अपनी मंत्रिपरिषद् के सम्बन्ध में राष्ट्रपति से सीमित क्षेत्र में उच्चतर होने के सिवाय जिसके अन्तर्गत अनुच्छेद 161 नहीं है, उस से उच्चतर नहीं होता। सांविधानिक निष्कर्ष यह है कि राज्यपाल, राज्य सरकार की संक्षिप्त अभिव्यक्ति है और राष्ट्रपति, केंद्रीय सरकार का संक्षिप्त रूप।

62. विवेचन के इस प्रक्रम में हमें अधिक गहरे महत्व के मुद्दे पर विचार करने की आवश्यकता है। जैसी कि क्षमा, लघूकरण और छोड़ने की (अनुच्छेद 72 और 161) शक्ति विस्तृत है, वह सीमा से आगे नहीं बढ़ सकती; क्योंकि कोई भी विधिक शक्ति वैसी बेलगाम नहीं हो सकती जिस प्रकार कि जॉन गिलपिन अपने घोड़े पर सवार होकर अनियंत्रित हो गया था, बल्कि उसे निश्चित रास्ते पर समझदारी के साथ चलना चाहिए। यहां पर हम दूसरे सांविधानिक मुद्दे पर विचार करेंगे जो कि काउन्सेल की दलील में अन्तर्निहित है। वह यह है कि सभी लोक शक्ति जिसके अन्तर्गत सांविधानिक शक्ति भी है, मनमाने ढंग से या असद्भावपूर्वक कभी भी प्रयोज्य नहीं होगी और मामूली तौर से उचित और समान रूप से निष्पादन करने के लिए जो मार्गदर्शक बातें होती हैं, वे शक्ति के विधिमान्य प्रयोग के लिए गारण्टी देती

[1] [1975] 1 उम० नि० प० 357=[1975] 1 एस० सी० आर० 814.

हैं। हम इस आधार पर अपना मत कायम करते हैं कि ये सूक्तियां हमारी सांविधानिक व्यवस्था में विधिमान्य हैं।

63. यदि हम ऐसा ठीक तौर से कहें, तो विद्वान् सालीसिटर जनरल ने भी सांविधानिक रूप से उस नियन्त्रित शक्ति के, जैसी कि दूसरे प्रतिपादन में व्याख्या की गई है, न्यायशास्त्र का गम्भीर रूप से विरोध नहीं किया। अनुच्छेद 14 संविधान में दी गई समता की भावना की अभिव्यक्ति है और स्पष्ट रूप से इस बात की ओर संकेत करता है कि मनमानापन हमारी पद्धति के अधीन अभिशाप है। इससे निश्चित रूप से यह अर्थ निकलता है कि क्षमा की शक्ति, परिहार का अनुदान तथा लघूकरण, नागरिक की स्वाधीनता के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण होने के कारण अपने-आप में विधि नहीं हो सकते, किन्तु उसे संविधान के अधिक बारीक सिद्धान्तों से अनुप्रमाणित होना चाहिए। **रमण दयाराम शेट्टी** बनाम **भारत का अन्तर्राष्ट्रीय विमान पत्तन प्राधिकरण और अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया था—

> "सरकार की मनमानी कार्रवाई पर नियंत्रण रखने वाला नियम जिसका हम ऊपर विवेचन कर चुके हैं उसी प्रकार वहां भी लागू होना चाहिए जहां ऐसा नियम जन साधारण के साथ व्यवहार करता है चाहे वह नौकरियां देने के रूप में हो या संविदाएं करने के रूप में अथवा अन्यथा। वह मनमाने ढंग से कार्रवाई नहीं कर सकता और किसी व्यक्ति के साथ अपनी पसंद से स्वेच्छया सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता अपितु उसकी कार्रवाई उसी सिद्धान्त के अनुरूप होनी चाहिए जो तर्क और सुसंगतता की कसौटी पर खरा उतरे।
>
> यह सिद्धान्त भी प्रत्यक्ष रूप से अनुच्छेद 14 में लेखबद्ध समता के सिद्धान्त से उद्भूत होता है। ई० पी० रायप्पा **बनाम** तमिलनाडु राज्य ([1974] 2 एस० सी० आर० 348) और मेनका गांधी **बनाम** भारत संघ [(1978) 1 एस० सी० सी० 248] में इस न्यायालय के विनिश्चयों के फलस्वरूप अब यह सुस्थापित है कि अनुच्छेद 14 राज्य की कार्रवाई के मनमानेपन पर प्रहार करता है और निष्पक्ष तथा समान व्यवहार को सुनिश्चित करता है। इस अनुच्छेद के अनुसार अपेक्षित है कि राज्य की कार्रवाई मनमानी नहीं होनी चाहिए अपितु वह किसी तार्किक और सुसंगत सिद्धान्त पर आधारित होनी चाहिए और वह सिद्धान्त विभेदकारी न हो। वह

[1] [1980] 2 उम० नि० प० 961 = (1979) 3 एस० सी० सी० 489.

अतिरिक्त या असंगत बातों पर आधारित नहीं होनी चाहिए क्योंकि इससे समता से वंचित रहना पड़ेगा । युक्तियुक्तता और युक्तिसंगतता का सिद्धान्त जो कि विधिक दृष्टि से समता या युक्तियुक्तता का एक आवश्यक तत्व है अनुच्छेद 14 में समाविष्ट है और राज्य की प्रत्येक कार्रवाई इसी आधार पर परखी जानी चाहिए, चाहे वह विधि के प्राधिकार से हो अथवा विधि बनाए बिना कार्यपालक शक्ति के प्रयोग में हो ।"

वी० पुन्नन थामस बनाम **केरल राज्य**[1] वाले मामले में न्यायमूर्ति मैथ्यु ने यह मत व्यक्त किया था—

"सरकार को अपने उपहार के प्राप्तिकर्ताओं का चयन करने में उतनी स्वतन्त्र नहीं है और न ही होनी चाहिए जितनी कि किसी व्यष्टि को होती है । उसका जो भी क्रियाकलाप हो, सरकार फिर भी सरकार होती है और वह ऐसे निर्बन्धनों के अध्यधीन होगी जो कि लोकतान्त्रिक समाज में उसकी स्थिति में अन्तर्निहित हो । लोकतान्त्रिक सरकार उन व्यक्तियों को चुनने के लिए, जिनके साथ ही वह सम्बन्ध रखेगी, मनमाने और सनकपूर्ण मानक अधिकथित नहीं कर सकती ।"

हम **रमण दयाराम शेट्टी** बनाम **भारत का अन्तर्राष्ट्रीय विमान पत्तन प्राधिकरण और अन्य**[2] वाले मामले से पुनः उद्धृत करना चाहेंगे—

"विधिसम्मत शासन की चाहे जो भी संकल्पना हो, चाहे इनका वह अभिप्राय हो जो डायसी ने 'दि ला आफ कांस्टिट्यूशन' नामक अपनी पुस्तक में दिया है अथवा आयक ने अपनी पुस्तक में 'रीड टू सर्फडम' और 'कांस्टिट्यूशन आफ लिबर्टी' में दी गई परिभाषा में दिया है या हैरीजॉन्स ने अपनी 'रूल आफ ला एण्ड दि वेलफेयर स्टेट' में प्रतिपादित किया है, जैसा कि न्या० मैथ्यु ने डेमोक्रेसी, इक्वेलिटी एण्ड फ्रीडम में [उपेन्द्र बख्शी, ईस्टर्न बुक कम्पनी, लखनऊ द्वारा सम्पादित (1978) पृष्ठ 28] में 'दि वेलफेयर स्टेट, रूल आफ ला एण्ड नैचुरल जस्टिस' नामक लेख में उल्लेख किया है, सारवान् सहमति यह न्यायिक विचार है कि विधिसम्मत शासन के विचार का मुख्य प्रयोजन शक्ति के मनमाने प्रयोग से व्यक्ति की वहां रक्षा करना है

1 ए० आई० आर० 1969 केरल 81.

2 [1980] 2 उम० नि० प० 961 =(1979) 3 एस० सी० सी० 489.

> जहां कहीं भी ऐसा पाया जाए। वस्तुतः यह विचारातीत है कि विधिसम्मत शासन वाले लोकतंत्र में कार्यपालिका सरकार या उसके किसी अधिकारी को व्यक्तियों के हितों पर मनमानी शक्ति प्राप्त हो। कार्यपालिका सरकार की प्रत्येक कार्रवाई सकारण होनी चाहिए और मनमानेपन से मुक्त होनी चाहिए। विधिसम्मत शासन का यही सार है और उसकी एकमात्र न्यूनतम अपेक्षा है। इस सिद्धान्त को लागू करने के लिए इस बात से कोई अन्तर नहीं पड़ता कि शक्ति के प्रयोग से किसी अधिकार पर प्रभाव पड़ता है या किसी विशेषाधिकार से वंचित रखा जाता है।
>
> ....सरकार का विवेकाधिकार असीमित नहीं माना गया है क्योंकि सरकार अपने मनमाने विवेकाधिकार से या अपनी स्वेच्छा से ठेके न तो दे सकती है और न ही वापस ले सकती है। जैसा कि 73 येल जा जर्नल 733 में 'दि न्यू प्रापर्टी' नामक एक विशेष लेख में प्रोफेसर रीश ने उल्लेख किया था, "इस बात का आग्रह किया गया कि सरकारी कार्रवाई ऐसे मानदण्डों पर आधारित हो जो मनमाने या अप्राधिकृत न हों। सरकार को यह कहने की इजाजत नहीं दी जा सकती कि वह उन्हीं लोगों को नौकरी देगी या ठेके देगी या कोटे या अनुज्ञप्तियां जारी करेगी जिनके भूरे बाल हैं या जो किसी विशेष राजनीतिक दल के हैं या विशेष धर्म को मानने वाले हैं। जब सरकार ठेके देने के विषय में कार्रवाई करती है तब भी वह सरकार ही होती है और वह मनमाने रूप से कार्रवाई नहीं कर सकती। इसकी वह स्थिति नहीं है जो एक प्राइवेट व्यक्ति की होती है।"

हमारी सांविधानिक व्यवस्था के लिए यह गौरव की बात है कि सभी शक्ति, उसका स्रोत चाहे जो भी हो, उसके प्रयोग की दृष्टि से, मनमानेपन का बहिष्कार करती है और ऐसे मानकों तथा मार्गदर्शक सिद्धान्तों का अनुपालन करती हैं जो कि बोधगम्य और बुद्धिमत्तापूर्ण हों तथा शक्ति के स्पष्ट प्रयोजन से एकीकृत हों। इस दृष्टि से क्षमा, लघूकरण या परिहार करने की शक्ति भी इस हितकारी सिद्धान्त के अध्यधीन होती है कि राष्ट्रपति की शक्ति के प्रयोग को भी मार्गदर्शक सिद्धान्त लागू होने चाहिए।

64. साधारण तौर से मत व्यक्त करते हुए लार्ड एक्टन के इस सिद्धान्त पर ध्यान देने की आवश्यकता है[1]—

[1] लैटर टू मण्डेल (लेटर, बिशप) क्रेग्टन, अप्रैल 5, 1887 हिस्टारिकल एसेज एण्ड स्टडीज, 1907.

"मैं आपके इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं कर सकता कि हमें पोप और सम्राट दोनों के सम्बन्ध में अन्य व्यक्तियों से भिन्न रूप में इस अनुकूल उपधारणा के साथ निर्णय करना है कि उन्होंने कोई भी गलती नहीं की है। यदि ऐसी कोई उपधारणा है, तो वह दूसरी ओर है, अर्थात् शक्ति के धारक के विरुद्ध है और शक्ति में वृद्धि होने के साथ ही उसमें वृद्धि हो जाती है।"

उसी प्रकार से एडमण्ड बर्क ने जो कि ब्रिटेन का महान् राजनयिक था, उस समय बहुत ठीक परामर्श दिया था, जब कि उसने यह मत व्यक्त किया था[2]—

"ऐसे सभी व्यक्ति जिनके पास थोड़ी-सी भी शक्ति होती है, इस विचार से जोरदार ढंग से तथा भयावह रीति से प्रभावित होने चाहिए कि वे न्यास में कार्य करते हैं और उन्हें न्यास में किए गए अपने आचरण का उत्तर समाज के महान मालिक, स्वामी और संस्थापक को देना है।"

65. जैसा कि हमने पहले ही उपदर्शित कर दिया है, 'क्षमा', अभिव्यक्ति का उपयोग विस्तृत अर्थव्याप्ति में करते हुए वह (शक्ति के) उचित प्रयोग की बात स्थापित करती है। राजनीतिक प्रतिषेध या दलीय पक्षपात, अड़ंगा लगाने के सिवाय, इस क्षेत्र में कुछ नहीं कर सकते। ऐसा आदेश जो कि असंगत या असद्भावपूर्ण बातों का परिणाम हो, ऐसे प्रयोग को निषिद्ध कर देता है। जब कि सांविधानिक शक्ति चुनौती दिए जाने से परे है, उसका वास्तविक प्रयोग फिर भी आलोचना का विषय हो सकता है। इसी प्रकार से, सनकपूर्ण सिद्धान्त उस प्रयोग को शून्य कर देगा। उदाहरण के लिए, यदि किसी राज्य का मुख्यमंत्री अपने जन्म दिन के अवसर पर अपने राज्य के कारावास के प्रत्येक व्यक्ति को इसलिए छोड़ देता है क्योंकि उसे पुत्र उत्पन्न हुआ है, तो ऐसे पागलपन की बात करना संविधान का उल्लंघन होगा। हम यह मत इस कारण व्यक्त कर रहे हैं, क्योंकि हमारे ध्यान में यह बात लाई गई है कि केन्द्रीय कारागार में किसी गृह मंत्री के पधारने की बात को इतना अच्छा शकुन समझा गया कि उस कारागार के सभी बन्दियों (के कारावास) का मात्र इसी कारण से सारवान् रूप से परिहार किया गया था। बड़े आश्चर्य की बात है कि इस अनुकूल परिस्थिति का पता एक वर्ष के बाद लगा और परिहार सम्बन्धी आदेश मंत्री महोदय के उस बन्दी सुधारगृह में पधारने के

1 रेफ्लैक्शन्स ऑन दि रेवोलूशन इन फ्रांस 1790.

1980(11) eILR(PAT) SC 122

बहुत दिन बाद दिया गया। हरियाणा सरकार ने 18 जुलाई, 1978 को जो वास्तविक आदेश दिया था, वह निम्नलिखित रूप में है[1]—

> "भारत के संविधान के अनुच्छेद 161 के अधीन प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए, हरियाणा के राज्यपाल, उन्हीं शर्तों और निबन्धनों पर जो कि भारत सरकार के गृह मंत्रालय के तारीख 10 जून, 1977 वाले पत्र सं० यू० 13034/59/77 में उल्लिखित थे, उन बन्दियों को जो कि भारत सरकार के गृह मंत्री के उक्त कारागार में पधारने के समय 29 मई, 1977 को नई दिल्ली स्थित तिहाड़ के केन्द्रीय कारागार में परिरुद्ध थे और जिन्हें हरियाणा राज्य में दाण्डिक अधिकारिता रखने वाले सिविल न्यायालयों ने दोषसिद्ध किया है, विशेष परिहार अनुदत्त करते हैं।"

ए० बनर्जी
चण्डीगढ़, तारीख 18 जुलाई, 1978 — सचिव, हरियाणा सरकार,
कारागार विभाग

यदि इस तर्क का विस्तार थोड़ा और कीजिएगा, तो आपके समक्ष इसकी निरर्थकता स्पष्ट हो जाएगी। किसी भी सांविधानिक शक्ति का प्रयोग प्राधिकृत व्यक्तियों के व्यक्तिगत दम्भ के कारण अशिष्टता के साथ नहीं किया जा सकता। उसी प्रकार से यदि विरोधी पक्ष का कोई नेता दण्डादिष्ट किया गया है, किन्तु परिस्थितियां परिहार की मांग करती हैं, जैसे कि वह कैंसर से पीड़ित है या यह कि उसकी पत्नी कभी-कभी रुग्ण हो जाती है या यह कि उसने पूरी तरह से अपना सुधार कर लिया है, तो अनुच्छेद 72/161 के अधीन परिहार करने की शक्ति का प्रयोग मामूली तौर से किया जा सकता है और यदि उससे इनकार किया जाता है, तो वह गलत बात होगी। दूसरी ओर यदि न्यायालय ने किसी ऐसे हत्यारे को जो कि हत्या करने में खून का प्यासा हो, उसकी क्रूरता के संबंध में कड़े शब्दों में मत व्यक्त करते हुए दण्डादिष्ट किया है, तो दोषसिद्धि के ठीक अगले ही दिन उसके सम्पूर्ण आजीवन दण्डादेश का परिहार इसलिए करना क्योंकि वह सत्तारूढ़ दल का सदस्य हो गया है या यह कि किसी राजनीतिक बड़े आदमी से उसका निकट का संबंध है, शक्ति का धृष्टतापूर्ण तथा असंगतिपूर्ण दुरुपयोग हो सकता है। यदि न्यायालय यह पाता है कि इस शक्ति का प्रायः दुरुपयोग किया जाता है, तो

[1] तारीख 18 जुलाई, 1978 वाला चण्डीगढ़ में किया गया आदेश सं० 14-8-78-जे० जे० (5).

उसे इस विभेद की छानबीन करनी होगी। यदि सरकार को वह विश्वास कायम रखना है जो कि संविधान-निर्माताओं ने उस पर किया था, तो उचित बात यह है कि वह विशेष स्थितियां या अचानक घटने वाली घटनाओं का सामना करने के लिए बड़ी अवशिष्टीय शक्ति को बनाए रखते हुए क्षमा की शक्ति का प्रयोग करने के लिए अपने मार्गदर्शन के वास्ते नियम बनाए। इससे विभेद की बुराई समाप्त हो जाएगी, जैसे कि वह वहां उत्पन्न हो सकती है, जहां कि दो व्यक्ति दोषसिद्ध किए गए हैं और एक ही मामले में एक ही प्रकार के दोष के लिए दण्डादिष्ट किए गए हैं, किन्तु ऐसे असंगत कारणों से जैसे कि धर्म, जाति, रंग या राजनीतिक वफादारी के कारण एक को छोड़ दिया गया है और दूसरे को छोड़ने से इनकार कर दिया गया है।

66. यदि हम इस आधारिक आधार को स्वीकार कर लेते हैं कि ऊंची कुर्सी वालों में निहित लोक शक्ति का प्रयोग न्यायसंगत रूप से किया जाता है, तो स्थिति अधिक सरल हो जाती है। मुख्य बातें परिहार या छोड़ने के कारण सामाजिक कल्याण पर निर्भर होंगी। यहां पर हम कारावास के प्रयोजन पर विचार करेंगे तथा कारावास को अधिक लम्बा खींचने के कारण ऐसे निष्कर्ष पर पहुंचते हैं जहां कि लाभ होने के स्थान पर हानि हो सकती है। किन्तु यह नाजुक स्थल कब मिलता है ? इस दकियानूसी गलती का पता हमें इस कविता की इन सीधी पंक्तियों से अधिक अच्छी प्रकार से चल जाता है[1]—

> "यह भी मुझे ज्ञात है—
> और यह बुद्धिमत्तापूर्ण बात होती,
> यदि प्रत्येक को वही बात ज्ञात हो सकती—
> कि कहीं ऐसा न हो
> कि प्रत्येक कारागार में
> जिसे मनुष्य बनाते हैं—
> यदि वह लज्जा की ईंटों से बनाया गया हो
> तथा लोहे की सलाखों से घिरा हुआ हो—
> ईसा मसीह यह देख लें
> कि लोग किस प्रकार
> अपने भाइयों का अंगभंग करते हैं।"

[1] दि बैलेड आफ रीडिंग जेल।

1980(11) eILR(PAT) SC 122

जब कि राष्ट्रपति कार्टर जॉर्जिया के गवर्नर थे, उस समय उन्होंने बार एसोसिएशन को सम्बोधित करते हुए कहा था—

> "हमने अपने कारागारों में, जो कि भूतकाल में जॉर्जिया के लिए कलंक थे, उन लोगों के गुणों में जो कि उनका प्रशासन चलाते हैं, सारवान् रूप से तब्दीली करने की और न्याय पद्धति के उस प्रभाव के प्रशासन में समझदारी, आशा और दयालुता का नवीन पुट रखने की कोशिश की है; उन लोगों में से 95 प्रतिशत जो कि कारागारों में इस समय बन्द हैं, हमारे पड़ोसी के रूप में वापस आ जाएंगे, और अब, जैसा कि एलिस मैकदुगल के अधीन प्रारम्भ किया गया था और डा० आल्ट के अधीन उसे अभी भी जारी रखा गया है, सम्पूर्ण कार्यक्रम का मुख्य बल प्रत्येक दोषसिद्धि का दण्डादिष्ट व्यक्ति की आत्मा में त्राण देने वाली इन मुख्य बातों के देखने पर है जिनमें वृद्धि की जा सकती है। उस व्यक्ति के कैरियर के लिए हमारी एक योजना है जिसका अनुसरण उस समय किया जाना चाहिए जबकि वह कारागार में है, मुझे विश्वास है कि अपराध व्यसन की दरों के जो आंकड़े पहले से हमारे पास हैं, उन्होंने इस बात की गुणकारिता को उपदर्शित कर दिया है कि हमने क्या किया है।"

67. इन सब बातों से यह साबित होता है कि कारावास की अवधि अन्तर में अच्छाई को जन्म नहीं देती है और वह इसके विपरीत बात का सबूत हो सकती है—जो ऐसी विपदा है जिससे अनुच्छेद 161 के अधीन शक्ति का प्रयोग करके विशेषकर तब बचा जा सकता है जब कि परिस्थितियों से अच्छा व्यवहार, परिश्रमी आचरण, सामाजिक उत्तरदायित्व और ऐसी मानवीय संवेदनशीलताएं जो कि प्रायः परिहार के रूप में एकत्रित अंकों में प्रतिबिम्बित होती हैं, दर्शित होती हैं। संक्षेप में, परिहार के नियम सिफारिशी प्रकृति के ऐसे प्रभावी मार्गदर्शक सिद्धान्त हो सकते हैं, जो बची हुई अवधि का परिहार करके बन्दी को छोड़ने में सरकार के लिए सहायक हो सकते हैं।

68. अपराध नियंत्रण के साधन के रूप में कारावास की असफलता और मुक्त वातावरण में असंस्थागत अनुकल्पों की खोज इन दोनों को तब महत्व प्राप्त हो जाता है जब कि धारा 433-क के अधीन व्यक्तिगत दण्ड का यान्त्रिक अपवर्जन करने पर विचार किया जा रहा हो, कारावास में—जहां कि प्रत्येक दिन एक वर्ष के समान होता, है, और ऐसा एक वर्ष जिसके दिन लम्बे होते हैं—क्रूरतापूर्ण 14 वर्ष तक रहने की बात पर ऐसे मानसिक

संकट के जो कि अपराधजनक तत्व है, सुलझाव के रूप में विचार किया जा रहा हो तथा जब कि इस स्पष्ट तथ्य की उपेक्षा की जा रही हो कि कम से कम कुछ समय के बाद सुधार-गृह का उपचार, अपराध-व्यसन के रोग में वृद्धि करता है। फेल्योर आफ पनिशमेंट में[1]—जो 1979 का प्रकाशन है—लेखकों ने निम्नलिखित कथन के साथ प्रारम्भ किया है—

> "कारावास की असफलता प्रगतिशील औद्योगिक अथवा औद्योगिकेतर देशों में, जैसे कि आस्ट्रेलिया, ब्रिटेन, कनाडा और संयुक्त राज्य अमेरिका में दण्ड-न्याय पद्धति में वर्तमान संकट की ओर सर्वाधिक ध्यान देने योग्य मुख्य बातों में से एक है। कारावास के उपयोग के पक्ष में प्रस्तुत किए गए एक के बाद दूसरे न्यायोचित्य के बारे में यह दर्शित किया गया है कि उसे गलत ढंग से समझा गया है। अधिक से अधिक, कारागार इन अभागे लोगों को जिन्हें गिरफ्तार किया गया हो, एक प्रकार के पशुतापूर्ण प्रतिशोध की व्यवस्था करने में समर्थ होते हैं। बुरा से बुरा यह है कि कारागार क्रूर होते हैं। उनकी बाबत यह दर्शित नहीं किया जा सकता कि वे अपराधियों का पुनर्वास करते हैं या उन्हें अपराध करने से रोकते हैं और समाज में अपराधियों के पुनः प्रवेश के लिए अपायकर हैं इसके अलावा, कारागारों पर अत्यधिक विश्वास के, विशेषकर अधिकतम सुरक्षा सम्बन्धी संस्थाओं के, जिनमें सुरक्षा सम्बन्धी खर्चीली प्रक्रियाओं पर जोर दिया जाता है, परिणामस्वरूप दण्ड न्याय के क्षेत्र के लिए समर्पित सम्पूर्ण स्रोतों का अत्यधिक उत्सारण होता है।"

इसी प्रकार के अनुसंधान सम्बन्धी अनेक वर्तमान प्रकाशनों में शोध प्रबन्ध एक ही होता है। जब तक कि आमूल-चूल परिवर्तन नहीं होता है, तब तक जॉर्ज एलिस की बात सही साबित होगी—

> "हमारे कारागार की पद्धतियों तथा पुनर्वास सम्बन्धी उनके गुणों से सम्बन्धित अनेक प्रश्न हैं। कारागार के भीतर जो पर्यवेक्षक होते हैं, वे यह पाते हैं कि कारागार तनाव तथा परेशानी के स्थल होते हैं। तनाव और परेशानी विभिन्न अप्रसामान्य परिस्थितियों का परिणाम है। कारागार, जिनके अन्तर्गत तथाकथित आदर्श-कारागार भी हैं, किसी व्यक्ति से उसका व्यक्तिगत अस्तित्व और गरिमा छीन लेते हैं।

1 "फेल्योर आफ पनिशमेंट" रोमन टोमासिक एण्ड आयन डोबिन्सन—एन आस्ट्रेलियन पर्सपेक्टिव—लॉ इन सोसाइटी नं० 3 जार्ज एलन एण्ड उन्वुन, पृष्ठ 1.

आम राय के विपरीत, सभी सिद्धदोष व्यक्ति ऐसे पक्के अपराधी नहीं होते जिनमें पर्याप्त भावनात्मक संतुलन न हो। ये ऐसे लोग होते हैं जिनमें प्रत्येक व्यक्ति की भांति भय होता है और जिनकी अपनी आकांक्षाएं भी होती हैं। सामान्यतः, वे आम व्यक्ति से अधिक अपने किसी भी पड़ोसी से लड़ना नहीं चाहते या उसकी हत्या नहीं करना चाहते। वे शांति से रहना चाहते हैं और जितनी शीघ्रता से हो सके, वे अपने प्रिय लोगों के बीच लौटना चाहते हैं। वे विभिन्न प्रकार की मानव-जाति नहीं होते या उनकी मनोवृत्ति सुभिन्न प्रकार की नहीं होती। वे ऐसे व्यक्ति होते हैं जिन्होंने गलतियां की हैं। यह बात दया मिलने की दृष्टि से पेश नहीं की गई है, बल्कि इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाने के लिए पेश की गई है कि कोई भी व्यक्ति समरूप जाल में फंस सकता है और फॉलसम प्रिजन जैसे कारागार के भीतर जा सकता है[1]।"

69. हमारी सांविधानिक व्यवस्था के अधीन, विधि का नियम सभी लोक शक्ति को ऐसे उत्तरदायित्वपूर्ण, संवेदनशील तथा नियमित शक्ति-प्रयोग के रूप में बदल देता है जो कि उच्च प्रयोजनों से अनुप्रमाणित हो और लोगों के कल्याण करने के दृष्टिकोण से प्रेरित हो किन्तु परिहार सम्बन्धी नियमों और लघूकरण-दण्डादेशन सम्बन्धी विधियों में बुद्धिमत्ता और विगत के अनुभव को स्थान दिया गया है। संसद् ने इन विशेष और स्थानीय अनुभवों के, जो कि अनेक दशाब्दियों से सम्बन्धित हैं, व्यर्थ होने या निरर्थ होने के बारे में 1978 में जो खोज की है, वह कोई नई नहीं है। हमारे ध्यान में उच्च शक्ति-प्राप्त समिति की रिपोर्ट, विशेषज्ञ निकाय की सिफारिशों, परिहारों और (कारावास से) छोड़ने के परिणामस्वरूप अपराध-व्यसन में कोई वृद्धि होने की बाबत कोई भी बात नहीं लाई गई है। इन भूतपूर्व सिद्धदोष व्यक्तियों के बाद के जीवन का अध्ययन किए बिना, उन हत्यारों के समय-पूर्व छोड़े जाने के किन्हीं मामलों के प्रति प्रभाववादी प्रतिक्रिया व्यक्त की गई है। हम यह पाते हैं कि वर्तमान प्रवृत्ति के अनुसार बन्द कारागारों के दाण्डिक अनुकल्पों के प्रति और कारावास की असफलता में विश्वव्यापी दुःख के प्रति जागृति उत्पन्न हो गई है। हम हृदय से यह चाहते हैं कि उन खुले कारागारों में जिनमें आजीवन बन्दी भरे हुए हों, परीक्षण किया जाए, पेरोल पर तथा परिवीक्षा पर उदारता के साथ छोड़ा जाए, किशोर के प्रति न्याय करके हृदयविशालता दिखाई जाए और उत्तर प्रदेश प्रिज़नर्स रिलीज़ आफ प्रोबेशन ऐक्ट, 1938 के

---

1. इनसाइड फॉलसम प्रिजन, एन ई० टी० सी० पब्लिकेशन पृष्ठ 24-25.

1980(11) eILR(PAT) SC 122

नियंत्राधीन उन्हें छोड़ दिया जाए या स्वतंत्र कर दिया जाए। हम प्रपीड़न सम्बन्धी इस अंधविश्वास के मार्ग पर फिर से चलने को दुख के बिना नहीं देख सकते कि आजीवन सिद्धदोष व्यक्ति जितनी लम्बी अवधि तक (कारागार में) रहेगा, उतनी ही निश्चित उसकी मुक्ति होगी। यह हमारा सुविचारित मत है कि अधिकतम आठ वर्ष की कालावधि से परे हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि कोई निश्चित फार्मूला रखा जाए—कारागार में जो निरोध किया जाता है, उससे किसी बन्दी का स्नायविक विनाश होता है या वह पूरा पशु बन जाता है। यदि जानवरों का फार्म सुधार गृह नहीं है, तो परिहार सम्बन्धी नियम और लघूकरण-दण्डादेशन स्कीमें दयालुता के और मानसिक तनाव में कमी के मानवीय साधन हैं। हमें इस विचार को अस्वीकृत करने में कोई भी हिचकिचाहट नहीं है कि अनुच्छेद 72/161 अनियंत्रित बने रहने चाहिए। हमें यह निदेश देना पड़ेगा कि परिहार का लघूकरण और दण्डादेशन की स्कीमों को अनन्तिम रूप से क्षमा-शक्ति के प्रयोग के अच्छे मार्गदर्शक सिद्धान्त के रूप में मान लिया जाए—यह ऐसी अधिकारिता है जिसका उपयोग उतनी बार और उतना सुचारु रूप से करना अभिप्रेत है, जितना सम्भव हो, न कि उसका दुरूपयोग करना, क्योंकि ऐसा करने की लालसा के परिणाम-स्वरूप शक्ति का ग़लत प्रयोग किया जा सकता है।

70. विद्वान् सालीसिटर जनरल का यह कहना ठीक है कि ये नियम स्पष्टतः कारागार अधिनियम (प्रिज़न्स ऐक्ट) के अधीन बनाए गए हैं, न कि सांविधानिक शक्ति के अधीन। पूर्वकथित धारा 433-क की परिधि के भीतर नहीं है। किन्तु वह किसी भी प्रकार से राज्यों को परिहार सम्बन्धी उन स्कीमों को जो कि हमें कुछ युक्तिसंगत मालूम पड़ती हैं कार्यकरण नियमों के रूप में अपनाने से प्रवारित नहीं करता। जो कुछ भी हो, सरकार प्रत्येक बन्दी का अति-सावधानी के साथ अध्ययन नहीं कर सकती और अंकों की वर्तमान पद्धति उस समय तक जब तक कि अधिक प्रगतिशील स्कीम के तथा विशेषज्ञों द्वारा दी गई सलाह के अनुसार तयार की गई स्कीम बना न ली जाए, काम नहीं कर सकती। धारा 433-क इस पद्धति को निषिद्ध नहीं कर सकती, क्योंकि उसे अनुच्छेद 161 द्वारा उन्मुक्ति प्राप्त है। हम बहुत ही ज़ोर देकर यह सुझाव देते हैं कि भंग किए बिना, परिहार के उन्हीं नियमों और स्कीमों को अनुच्छेद 161 की मूल आत्मा को कायम रखते हुए, जारी रखा जा सकता है और उसके फायदे उन सभी को दिए जा सकते हैं जो कि उनकी वैध परिधि के भीतर आते हैं—किन्तु उन विशेष मामलों में यह लागू नहीं होगा जिन्हें अन्य सुसंगत बातों की आवश्यकता हो। कार्यपालिका की राज्य-क्षमा की विस्तृत

शक्ति स्वयं द्वारा सृष्ट नियमों के जरिए प्रतिबन्धित नहीं की जा सकती।

71. एक और मुद्दे को स्पष्ट करना रह गया है। उत्तर प्रदेश प्रिज़नर्स रिलीज़ आन प्रोबेशन ऐक्ट, 1938 जो कि स्वागत-योग्य अध्युपाय है, भले ही कारागारों में अत्यधिक बन्दी क्यों न हों और सरकारी खजाने पर उनके खर्चे का बोझ कितना ही क्यों न हो, धारा 433-क से अपना अस्तित्व दो कारणों से बचाए रखेगा। प्रथमतः, सरकार कानूनी स्कीम का सहारा विधि के रूप में न लेकर मार्गदर्शक सिद्धान्त के रूप में ले सकती है। दूसरी बात यह है, और जो कि अधिक महत्वपूर्ण है, कि 'कारागार' और 'कारावास' अभिव्यक्तियों की अर्थव्याप्ति अधिक विस्तृत होनी चाहिए और उसके अन्तर्गत कोई ऐसा स्थान आना चाहिए जो कि निरोध प्रयोजन के लिए उस रूप में अधिसूचित किया गया हो। 'पत्थर की दीवारों और लोहे की सलाखों' से कारागार नहीं बनते; और न ही 'पत्थर की दीवारें और लोहे की सलाखें' किसी कारागार को बनाने के लिए अनिवार्य हैं। खुले कारागार स्पष्ट उदाहरण हैं। राज्य के नियन्त्रणाधीन ऐसा कोई भी व्यक्ति, चाहे वह ऊंची-ऊंची दीवारों के भीतर हो या नहीं, उस दशा में, यदि विधि उसे उस रूप में मानती है, कारागार में बन्दी हो सकता है, उदाहरण के लिए घर के भीतर ही नजर-बन्द किया जाना। ऐसे स्थान जहां कि गांधीजी को निरुद्ध किया गया था, कारागार थे। कारागार सम्बन्धी विधि के अधीन स्वतंत्रता पर लगाया गया अवरोध इसकी कसौटी है। जहां कि विधि द्वारा तुरन्त गिरफ्तारी की मंजूरी दी जाती है, वहां अनुज्ञप्ति-प्राप्त मुक्ति और उसी प्रकार से, जहां कि परोल मुक्त माध्यम नहीं होता, वहां परोल, और कारागार सम्बन्धी विधि के अदृश्य बन्धनों के अधीन अन्य प्रवर्गों को कारावास के रूप में वैध रूप से माना जा सकता है। धारा 433-क के अधीन 14 वर्ष की संगणना करने के लिए भी इस मुद्दे को स्पष्ट करना आवश्यक है। यदि धारा 432, 433 और 433-क को साथ-साथ पढ़ा जाए, तो उसके परिणामस्वरूप ऐसा परिणाम निकलता है कि जो हमने निकाला है और यद्यपि इस अधिनियम का औदार्यपूर्ण उपयोग संभल-संभल कर किया जाना चाहिए, उससे कल्याण हो सकता है। यदि राष्ट्र-पिता की प्राधिकृत वाणी हमारा मार्गदर्शन कर सकती है, तो यद्यपि कारागार सम्बन्धी सुधार, के बारे में काफी प्रचार किया गया है, वह दृष्टिगोचर आन्तरिक रूप से होने की बनिस्बत बाह्य रूप से अधिक दृष्टिगोचर है, और क्रोध, धमकियों तथा विधानीकृत शारीरिक यातनाओं की बनिस्बत चेतना को अधिक गहराई से जागृत करने की आवश्यकता है। किसी व्यक्ति को बेड़ियों में जकड़ना, उसे परिवर्तित करना नहीं होता; गलती स्पष्ट है—मनुष्य वन-

मानुष से अधिक होता है। हमारा तर्क दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 433-क को कायम रखता है, किन्तु उसी समय परिहार और (कारावास से) छोड़ने की उपशमनकारी आशा का त्याग करने की भर्त्सना भी करता है। विधान बनाने का काम दूसरी शाखा का है, किन्तु जहां न्याय उसका विषय होता है, न्यायालय को अवश्य ही अपना मत व्यक्त करना चाहिए। कुछ ऐसी दलील दी गई थी कि धारा 433-क के बारे में यह समझा गया है कि वह परोल पर प्रतिबंध है। यह बात बिल्कुल ही गलत है। यह धारा कारागार में लगातार 14 वर्ष तक रहने को बाध्यकारी बनाती है और उसी प्रकार से परोल भी अनुज्ञेय है। इसके अलावा हमें और आगे यह कहना है कि कारागार सम्बन्धी हमारे प्रशासन को चाहिए कि वह अवरुद्ध तनाव और कामवृत्ति के विपर्यास को जो कि अनेक सुधार-गृहों में आमतौर से प्रसिद्ध हैं, रोकने की दृष्टि से परोल पर उदारता के साथ छोड़े (सेठना के "सोसाइटी एण्ड क्रिमिनल"—त्रिपाठी प्रकाशन, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ 296 पर देखिए)।

72. हम अपने निष्कर्ष निकालते हुए इस प्रकार अपनी बात समाप्त कर रहे हैं—

(1) हम धारा 433-क की शक्ति पर किए गए सभी आक्षेप अस्वीकृत करते हैं। यह हो सकता है कि दाण्डिक दृष्टि से इस धारा द्वारा विहित लम्बे समय तक चलने वाली अवधियां अतिरिक्त-चारी हों। यदि हमें इस बात का अधिकार होता, तो हम सुधार के लिए 14 वर्ष के कारावास की आवश्यकता को नामंजूर कर देते। किन्तु हमारा काम अर्थान्वयन करना है, न कि (विधि की) रचना करना, व्याख्या करना है, न कि संहिताबद्ध करना।

(2) हम विभिन्न राज्यों द्वारा बनाए गए परिहार सम्बन्धी नियमों और लघूकरण-दण्डादेशन विषयक कानूनों पर धारा 433-क की वर्तमान सर्वोपरिता की अभिपुष्टि करते हैं।

(3) हम संविधान के अनुच्छेद 72 और 161 के अधीन पारित परिहार और लघूकरण दण्डादेशन सम्बन्धी सभी आदेशों को कायम रखते हैं, किन्तु आजीवन दण्डादेशों के मामलों में केवल उसी दशा में बन्दी मुक्त किए जाएंगे जबकि सरकार उस सम्बन्ध में या तो एकमुश्त या अलग-अलग आदेश दे।

(4) हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि धारा 432 और 433 संविधान के अनुच्छेद 72 और 161 की अभिव्यक्तियां नहीं हैं, किन्तु वे पृथक्, यद्यपि समरूप, शक्तियां हैं और धारा 433-क पहले

वाले इन उपबन्धों को पूर्णत: या भागत: अकृत करके, क्षमा, लघूकरण और उसी प्रकार की अन्य बातों की सांविधानिक शक्तियों का अतिक्रमण नहीं करती या उसके पूर्ण प्रवर्तन से विचलित नहीं होती।

(5) हम यह अभिवाक् अस्वीकृत करते हैं कि धारा 433-क संविधान के अनुच्छेद 20(1) का उल्लंघन करती है।

(6) हम यह अभिनिर्धारित करने के लिए कि आजीवन कारावास अन्तिम सांस तक चलता रहता है और अर्जित किए गए परिहारों की अवधि चाहे जितनी भी हो, बन्दी छोड़े जाने का दावा तभी कर सकता है, यदि सरकार उसके बचे हुए दण्डादेश का परिहार कर देती है, **गोडसे वाले मामले**[1] का अनुसरण करते हैं।

(7) हम यह घोषित करते हैं कि धारा 433-क, अपने दोनों ही अंगों की दृष्टि से, अर्थात् उसमें विनिर्दिष्ट दोनों प्रकार के आजीवन कारावास की दृष्टि से, भविष्यलक्षी प्रभाव की है। सन्देह से परे इस स्थिति को प्रस्तुत करने के लिए हम यह निदेश देते हैं कि 14 वर्ष का वास्तविक आज्ञापक न्यूनतम कारावास उन लोगों के विरुद्ध प्रवृत्त नहीं होगा जिनके मामले 18 दिसम्बर, 1978 के पूर्व विचारण न्यायालय द्वारा विनिश्चित किए जा चुके थे, जबकि धारा 433-क प्रवृत्त हुई थी। ऐसे सभी आजीवन बन्दी जिनकी दोषसिद्धि प्रथम बार के न्यायालय ने उस तारीख के पूर्व की थी, सरकार द्वारा उपार्जित परिहार के आधार पर छोड़े जाने के लिए विचार के हकदार हैं, यद्यपि छोड़ने का काम केवल तभी किया जा सकता है, यदि सरकार उस प्रभाव का आदेश करती है। इस सीमा तक कालक्रम सम्बन्धी लड़ाई बन्दियों ने जीत ली है। उसी तर्क के आधार पर इससे यह अर्थ निकलता है कि लघूकरण दण्डादिष्ट करने से सम्बन्धित विधान, यदि कोई हों तो, किसी बन्दी को उसके अधीन छोड़े जाने का हकदार बनाएंगे, यदि प्रथम बार के न्यायालय द्वारा की गई उसकी दोषसिद्धि धारा 433-क के पूर्व, प्रभावी की गई थी।

(8) संविधान के अनुच्छेद 72 और 161 के अधीन शक्ति का प्रयोग केन्द्रीय और राज्य सरकारें करती हैं, न कि राष्ट्रपति या राज्यपाल स्वयं ही। समुचित सरकार की सलाह राज्य के मुखिया

1. [1961] 3 एस० सी० आर० 440.

को आबद्ध करती है। प्रत्येक अलग-अलग मामले के लिए अलग-अलग आदेश आवश्यक नहीं है किन्तु कोई भी साधारण आदेश इतना काफी स्पष्ट होना चाहिए जिससे कि मामलों का समूह स्पष्ट हो जाए और सम्पूर्ण समूह के बारे में बुद्धि का इस प्रकार प्रयोग किया जाना उपदर्शित हो जाए।

(9) अनुच्छेद 72/161 के अधीन शक्ति का प्रयोग करने के लिए अनेक बातें हैं और उनके अवसर भी बहुत हैं और वे बातें समुचित सरकार के लिए छोड़ दी जाती हैं किन्तु कोई भी बात या अवसर पूर्णतः असंगत, अयुक्तिसंगत, विभेदक या असद्भावपूर्वक नहीं हो सकती है। केवल इन बहुत कम घटित होने वाले मामलों में न्यायालय ऐसे प्रयोग की जांच करेगा।

(10) यद्यपि परिहार सम्बन्धी नियम या लघूकरण दण्डादेशन उपबन्ध अपने ही बल से धारा 433-क के विरुद्ध लागू नहीं हो सकते, तथापि वे धारा 433-क को उस दशा में अध्यारोहित करेंगे यदि सरकार, चाहे केन्द्रीय हो या राज्य, ठीक इन्हीं नियमों या इन स्कीमों के जरिए अपनी सांविधानिक शक्ति का प्रयोग करते हुए मार्गदर्शन करते हैं। हम इसे उचित मानते हैं कि जब तक प्राप्त किया गया अनुभव, प्रचलित सामाजिक दशाओं तथा दण्ड सम्बन्धी स्वीकृत विचारधारा के अनुसार—जो कि हमारी दृष्टि में वांछनीय कदम है, नए नियम न बना दिए जाएं, तब तक प्रस्तुत परिहार और छोड़ने सम्बन्धी स्कीमों को अनुच्छेद 72/161 के अधीन मार्गदर्शक सिद्धान्तों के रूप में उपयोगी माना जा सकता है और छोड़ने के आदेश पारित किए जा सकते हैं। यदि अत्यधिक क्रूर अपराधियों की दशा में, धारा 433-क को स्वयं ही अनुच्छेद 72/161 के प्रयोग के लिए मार्गदर्शन सिद्धान्त के रूप में माना जाता है, तो हम सरकार को गलत नहीं बता सकते। हमारे ये विचार क्रम-भंग से बचने के लिए सिफारिश के तौर पर किए गए हैं, किन्तु यह विनिश्चित करना केन्द्रीय या राज्य सरकार पर निर्भर है कि क्या परिहार सम्बन्धी प्रचलित नियम तब तक अस्तित्व में नहीं रहने चाहिए और क्यों नहीं रहने चाहिए, जब तक कि उनके स्थान पर अधिक हितकारी स्कीम न बना दी जाए।

(11) उत्तर प्रदेश प्रिजनर्स रिलीज ऑन प्रोबेशन ऐक्ट, 1938, जो कि अनुज्ञप्ति के अधीन सीमित अभिवृद्धि करने में समर्थ बनाता है, अनिर्णीत तथा औदार्यपूर्ण प्रकार के ऐसे कारावास के रूप में जो

कि विधायी रूप से स्वीकृत किया गया हो, प्रभावी होगा और अनुज्ञप्ति-प्राप्त ऐसी अभिवृद्धि की गणना 14 वर्ष की अस्तित्वावधि के प्रयोजनार्थ की जाएगी। उसी प्रकार के अन्य कानूनों और नियमों को भी समरूप गुणकारिता प्राप्त होगी।

(12) हमारी दृष्टि में, दाण्डिक मानवतावाद और पुनर्वास सम्बन्धी अभाव, सुरक्षा सम्बन्धी रक्षोपायों और बन्दियों के लिए अन्य मानवतावादी रणनीति के अध्यधीन रहते हुए, औदार्यपूर्ण परोल को इस प्रकार न्यायोचित ठहराते हैं जिससे कि सार्वजनिक कारागारों को वन-मानुष से भरे चिड़ियाघर के रूप में बनाकर मनुष्य की देह की गरिमा और मूल्य का अपमान न किया जाए। मानवीय अधिकारों के प्रति जागरूकता के परिणामस्वरूप संस्थागत सुधार की तथा आनुकल्पिक बातों की खोज करने की प्रेरणा मिलनी चाहिए।

(13) हमने विधि को ठीक तौर से ही घोषित किया है, किन्तु सक्रिय विधि केवल घोषणा करने से ही अपने उद्देश्य की पूर्ति नहीं करती और उसे सम्बन्धित समुदाय तक पहुंचाने की आवश्यकता होती है। इसलिए यह न्यायालय और आगे यह निदेश देता है कि इस डिक्री के अन्तिम भाग का अनुवाद कर दिया जाए और प्रत्येक वार्ड में सहजदृश्य रूप से रखा जाए तथा सम्पूर्ण निर्णय राज्य की भाषा में कारागार के पुस्तकालय में बन्दियों को उपलब्ध कराया जाए।

(14) धारा 433-क, 14 वर्ष की कालावधि के भीतर परोल या अन्य प्रकार से छोड़ने की बात निषिद्ध नहीं करती। इसलिए इस धारा का निर्वचन इस प्रकार करना जिससे कि आन्तरिक तनाव तथा स्वतंत्रता में बाधा की स्थिति में वृद्धि हो, भाषा और स्वाधीनता को हानि पहुंचाना है।

73. इस निर्णय को इतना लम्बा होने से (दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 433-क की लम्बाई की भांति) बचाया जा सकता था किन्तु ऐसे सिद्धान्त और ऐसी व्यावहारिक बातें जो कि अनेक मामलों में अन्तर्वलित हैं और जो मानव दुःख के आवरण मात्र हैं, अपराधियों की भी पूरी तरह से परीक्षा करने को न्यायोचित ठहराती हैं। इसके अलावा चीफ जस्टिस अर्ल वारेण्ड की भर्त्सना, हमें इसकी लम्बाई से हतोत्साहित न होते हुए, आधारिक बातों की संवीक्षा करने के लिए विवश करती है—

"हमारे न्यायाधीश भिक्षु या वैज्ञानिक नहीं हैं किन्तु हमारे राष्ट्रीय जीवन के सजीव स्रोत में भाग लेने वाले लोग हैं जो कि विधि को एक ओर, कठोरता के और दूसरी ओर अत्यधिक शैथिल्य के खतरों के बीच से होकर आगे ले चलते हैं। हमारी पद्धति को सिद्धान्त संबंधी किसी भी कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता है। किन्तु केवल एक निरन्तर समस्या का सामना करना पड़ रहा है: कभी भी परिवर्तित न होने वाले स्वतन्त्रता के सिद्धान्त सदा से परिवर्तित होने वाली स्थितियों को कैसे लागू किए जाएं।"

(फारचुन नवम्बर, 1955)

अन्तिम अभिमत

74. वकीलों की ओर से जो बहस की गई है, उसकी विश्वसनीयता के कारण हम गलतफहमी दूर करना चाहते हैं। कोई दलील इस प्रकार दी गई कि 14 वर्ष के कारावास का न्यूनतम दण्डादेश दिया जाना ठीक है, क्योंकि हत्या के शिकार व्यक्ति को अवश्य ही स्मरण किया जाना चाहिए, तथा ऐसे जघन्य अपराधी को कम कठोर न्याय नहीं दिया जाना चाहिए। हमें खेद है कि, अप्रत्यक्ष रूप से प्रतिषेधात्मक कठोरता को न्यायोचित ठहराने के लिए हताहत विज्ञान को दण्ड विज्ञान के साथ मिश्रित करने के सम्बन्ध में जो मूल सिद्धान्त हैं, उनके बारे में भ्रम है। यदि अपराध के परिणामस्वरूप कोई आहत होता है, तो दण्ड-विज्ञान के अन्तर्गत आहत विज्ञान से सम्बन्धित बातों के मुख्य संघटक के रूप में उसे भी होना चाहिए। वास्तव में, जब कोई हत्या या जघन्य अपराध किया जाता है, तो उसके आश्रित या अन्य व्यथित व्यक्तियों की क्षतिपूर्ति की जानी चाहिए और उस हानि की पूर्ति करने या घाव को भरने सम्बन्धी अपराधी का सामाजिक दायित्व, दाण्डिक कार्रवाई का अंग है। किन्तु कारावास की अवधि की लम्बाई से किसी बेसहारे या व्यथित व्यक्ति की क्षतिपूर्ति नहीं होती है और वह क्रूरता-मिश्रित निरर्थकता है। क्या (कथानिष्ठ) निर्जीव वस्तु में जीवन का संचार किया जा सकता है? यदि कुशाग्रता और प्रपीड़नवाद से मुक्ति प्राप्त हो जाए, तो उसी प्रकार से इस बात पर जोर दिया जा सकता है कि क्या हत्यारे को कोड़े से मारने या उसके शरीरांग को जलाने या उसे मानसिक यातना देने से मृत्यु-विज्ञान की किसी प्रक्रिया द्वारा मृतक की आत्मा को शान्ति मिलती है या मानव-वध के परिणामस्वरूप जो भयंकर हानि हो जाती है, उसकी पूर्ति होती है? आहत-विज्ञान (के लक्ष्य) की पूर्ति जो कि मानवीय दण्ड-न्याय की अंकुरित

होने वाली शाखा है, पशुता के जरिए नहीं बल्कि गलत काम करने वाले द्वारा की गई नुकसानी की अनिवार्य आपूर्ति करके अपराधी को अधिक वेदना न देकर, बल्कि निराश्रितों की हानि को कम करके की जा सकती है। स्वयं राज्य की रणनीति अनुच्छेद 41 के भाग के रूप में आहतों की कठिनाइयों को कम करने वाली हो सकती है। अतः हम यह नहीं समझते कि धारा 433-क में जो आज्ञापक न्यूनतम अवधि विहित की गई है, उसे आश्रितों के दुःख के साथ जोड़ा जा सकता है।

75. हम अनुच्छेद 433-क को दी गई चुनौती से सम्बन्धित रिट पिटीशन खारिज करते हैं, किन्तु उन्हें उस सीमा तक मंजूर करते हैं जो कि ऊपर उपदर्शित की गई है। यद्यपि लड़ाई में पराजय हो गई है, तथापि युद्ध में हार नहीं हुई है। न्याय को विजयी अवश्य ही होना चाहिए। सम्बन्धित प्राधिकारी इस निर्णय में दिए गए निदेशों को सावधानी के साथ कार्यान्वित करेंगे। चूंकि दैहिक स्वाधीनता खतरे में है, इसलिए तुरन्त कार्रवाई करना आवश्यक है।

न्यायाधिपति ए० डी० कौशल द्वारा दिया गया निर्णय।

न्यायाधिपति कौशल—

76. मेरे विद्वान् बन्धु न्यायाधिपति कृष्ण अय्यर द्वारा तैयार किए गए निर्णय का परिशीलन करने पर मैं उनके द्वारा अपने निर्णय के अन्तिम भाग में प्रगणित निष्कर्ष (2) से (11) तक, (13) और (14) के साथ सम्मानपूर्वक सहमत हूं, किन्तु मुझे खेद है कि मैं शास्ति-विज्ञान के सुधारात्मक पहलू पर उनके द्वारा अभिव्यक्त किए गए सभी मतों का विशेषकर निष्कर्ष (12) के प्रथम वाक्य के अलावा निष्कर्ष (1) के अलावा उसका जो निष्कर्ष (1) का आधार है, अनुमोदन करने में असमर्थ हूँ। उन मतों के सम्बन्ध में सामान्य रूप से मेरे विद्वान् भाई न्यायाधिपति फजल अली द्वारा तैयार किए गए टिप्पण से सामान्यतः सहमत होते हुए मैं स्वयं अपना एक अत्यन्त संक्षिप्त टिप्पण देता हूं।

77. चार मुख्य उद्देश्य, जिनका प्राप्त किया जाना राज्य सरकार द्वारा किसी अपराधी के दण्ड से आशयित है, निवारण, निरोध, प्रतिकार और सुधार हैं जिन्हें पूर्ण रूप से मान्यता प्राप्त है और उन पर कोई मतभेद

होने की सम्भावना नहीं है। अपने निवारक उद्देश्य में दण्ड की गणना एक ऐसे कार्य के समान की गई है जो अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध समाज विरोधी कार्य में व्यस्त होने के लिए जिसके लिए यह दिया जाता है, एक चेतावनी है। यह एक निरोध के रूप में कार्य करता है क्योंकि अपराधी का बन्दीकरण जब तक जारी रहता है, उसके लिए आपराधिक कार्य को पुनः करना असंभव बना देता है। उसे एक विधि का पालन करने वाले नागरिक में परिवर्तित करना निश्चय ही शास्ति सम्बन्धी विधान का एक दूसरा उद्देश्य है। किन्तु इसी प्रकार से प्रतिकार है जिसका वर्णन भी सामाजिक निन्दा और विधि को महत्व देने के एक प्रतीक के रूप में किया गया है। जिस प्रश्न की बाबत विधिज्ञ-वर्ग ने विभिन्न मत अभिव्यक्त किए हैं, वह ऐसी बात पर बल देने से सम्बन्धित है जिसके बारे में विधानमण्डल से उक्त चार उद्देश्यों में से प्रत्येक पर जोर डालना आशयित है। पिटीशनरों की ओर से यह दलील दी गई है कि प्रत्येक दण्ड का मुख्य उद्देश्य अपराधी का सुधार होना चाहिए और पूर्व-वर्णित अन्य उद्देश्यों का बहिष्कार किया जाना चाहिए और उन्हें केवल प्रासंगिक रूप से ही लागू किया जाना चाहिए। मैं इस प्रस्थापना से गम्भीर रूप से, तीन कारणों से, असहमत हूं।

78. प्रथम स्थान पर कोई ऐसा साक्ष्य नहीं है कि समस्त या अधिकतम अपराधी जिन्हें दण्ड दिया जाता है, सुधार किए जाने के योग्य होते हैं। यह सत्य है कि कुछ ही पहले के वर्षों में इस मत का कठोर समर्थन किया गया है कि दण्ड का प्रमुख उद्देश्य सुधार है किन्तु इस अभिव्यक्ति के विरुद्ध विरोधी मत का भी अभाव नहीं है। पूर्ववर्ती मत के समर्थक इस बात के लिए चिल्लाते हैं कि दण्ड का केन्द्र बिन्दु अपराधी न होकर अपराध होना चाहिए। तथापि, दूसरे इस बात के लिए समान रूप से आवाज उठाते हैं कि विशेष ध्यान उससे उत्पन्न होने वाली रिष्टि पर दिया जाना चाहिए जो कुछ अपराधी ने अपने घटनाग्रस्त व्यक्ति और उसके जो निकट संबंधी हैं, उनके साथ किया है और घटनाग्रस्त होने पर अधिक ध्यान देने पर जोर दिया गया है और इसलिए दण्ड के प्रतिकारात्मक पहलू पर विशेष ध्यान दिया गया है। उन्होंने इन बातों पर जोर दिया है—

> "न तो सुधारक न ही मनोवैज्ञानिकों को दोषसिद्ध अपराधियों द्वारा अपराध वासना को कम करने में अधिक सफलता मिली है, न ही सख्ती न छूट से बार-बार अपराध करने वालों को रोकने में

1980(11) eILR(PAT) SC 122

सफलता मिली है.............आपराधिकता ऐसा रोग नहीं है जिसका सामाजिक चिकित्सा के माध्यम से उपचार किया जा सकता हो।"[1]

यह हमारे सामाजिक वाद-विवाद का विषय रहा है और जहां तक कोई व्यक्ति निर्णय कर सकता है यह आने वाले भविष्य में यह उसी स्तर पर बना रहेगा।

79. दूसरे, यह प्रश्न कि दण्ड के विभिन्न उद्देश्यों में से किसे दाण्डिक उपबंध का आधार होना चाहिए, मामले की परिस्थितियों के अनुसार, विधानमण्डल पर छोड़ दिया गया है और न्यायालयों को यह नहीं कहना है कि उनमें से किसे पूर्विकता, प्रबलता या प्रभुत्व दिया जाएगा। वस्तुत: ऐसा हो सकता है कि दण्डात्मक विधि का आशय चारों उद्देश्यों में से केवल एक को अभिप्राप्त करना हो किन्तु यह एक ऐसी बात है जिसका विनिश्चय विधानमण्डल को अपने तर्क के अनुसार करना चाहिए। किसी ऐसे अपराध को जो राज्य की सुरक्षा में बाधा डालने के समान हो, इतना गम्भीर समझा जा सकता है जिससे कि प्रतीकारात्मक और सुधारात्मक पर कोई ध्यान दिए बिना निवारण और निरोध दोनों ही रूप में मृत्युदण्ड के अलावा किसी और की मांग न की जाएगी। दूसरी ओर, ऐसे अपराध जिसमें नैतिक अधमता सम्मिलित हो, उनके लिए विधानमण्डल द्वारा अभिप्राप्त किए जाने वाला मुख्य उद्देश्य सुधार हो सकता है। तीसरे मामले में समस्त चारों उद्देश्यों को दण्ड का चयन करने में ध्यान में रखा जा सकता है, क्योंकि यह चयन विधानमण्डल का होना चाहिए और न्यायालयों का नहीं होना चाहिए और पश्चात्कथित को विधानमण्डल को यह सलाह नहीं देनी है कि किस विशेष परिस्थिति में कौन से विशेष उद्देश्य को केन्द्र बिन्दु बनाया जाएगा। न तो न्यायालयों को ही किसी शास्ति संबंधी विधान द्वारा, उसकी सांविधानिकता का निर्णय करते समय अभिप्राप्त किए जाने वाले मुख्य प्रयोजन के औचित्य के संबंध में स्वयं अपने विचारों द्वारा अनुसरित होने की छूट है। किसी प्रतिकूल प्रस्थापना का अभिप्राय विधानमण्डल के क्षेत्र में कदम रखना होगा और यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि ऐसा करना अनुज्ञेय नहीं है। अत: यह "किसी शास्ति संबंधी उपबंध का आधार क्या होना चाहिए" के संबंध में महान् विचारकों, विधि विशेषज्ञों, राजनीतिज्ञों और सन्तों के मत के होते हुए भी धारा 433-क में अन्तर्विष्ट उपबंधों की विधिमान्यता के संबंध में

---

[1] पंजाब उच्च न्यायालय के सेवा निवृत्त न्यायाधीश और हरियाणा जेल सुधार आयोग के अध्यक्ष श्री टेक चन्द द्वारा लिखित क्राइम, कन्टेनमेन्ट एण्ड जेल्स पर निबंध।

इस न्यायालय द्वारा यह निष्कर्ष निकालने के लिए की जाने वाली जांच के क्षेत्र से बाहर है कि उसके द्वारा अभिप्राप्त किए जाने की याचना किए जाने वाले सुधार के उद्देश्य की सीमा क्या है ।

80. देश में प्रचलित शास्ति संबंधी विधि का, विशेषकर उसका जो भारतीय दण्ड संहिता में अन्तर्विष्ट है, जिसमें स्पष्ट रूप से यह बताया गया है कि विधि द्वारा अनुज्ञात प्रत्येक दण्ड की कठोरता प्रत्यक्ष रूप से उस अपराध की गम्भीरता के अनुपात में होनी चाहिए जिसके लिए यह अधिनिर्णीत किया गया है, सावधानी से अध्ययन करने से तीसरा कारण मिलता है । मेरे विचार में इस बात के प्रति विशेषकर संकेत किया गया है कि सुधार सर्वप्रथम उद्देश्य न होने के कारण विधानमण्डल द्वारा अपनाए गए शास्ति संबंधी उपबंधों द्वारा अभिप्राप्त करने की याचना की गई है । कोई व्यक्ति जिसने अत्यन्त क्रोध में आकर हत्या की है, अपने पश्चात्वर्ती जीवन में फिर कभी ऐसा कार्य नहीं करेगा और उसके मामले में सुधार की प्रक्रिया में ज्यादा समय लगने की आवश्यकता नहीं है । दूसरी ओर किसी चोर को दूसरों को उनके धन से वंचित करने की उसकी प्रवृत्ति को छुड़ाने में काफी समय लगेगा । यदि दण्ड के सुधारात्मक पहलू को प्रत्येक मामले में प्राथमिकता और प्रभुत्व दिया जाए तो हत्या करने वाला व्यक्ति मामले की परिस्थितियों के अनुसार 6 मास से अधिक के बंदीकरण की अवधि का हकदार नहीं होगा जब कि किसी चोर को सामाजिक दृष्टिकोण से जीवन के उत्तम रास्तों पर प्रशिक्षित करने में एक लम्बी अवधि लग सकती है और मृत्युदण्ड जिसकी विधिमान्यता की कुछ ही समय पूर्व बचन सिंह और अन्य बनाम पंजाब राज्य और अन्य[1] में इस न्यायालय की 5 न्यायाधीशों की न्यायपीठ में से 4 के बहुमत द्वारा पुष्टि की गई है, भारतीय दण्ड विधि से उसका बहिष्कार हो जाएगा । सुधार के उद्देश्य पर आधारित तर्क जो दण्ड के पीछे विधायी प्रयोजनों में सर्वप्रथम हैं, अतएव उन्हें मिथ्या अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए ।

81. मैं यह निष्कर्ष निकालता हूं कि दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 433-क की अन्तर्वस्तुओं (अथवा उस प्रयोजनार्थ कोई अन्य शास्ति संबंधी उपबंध) पर इस आधार पर आक्षेप नहीं किया जा सकता है कि वे संविधान के अनुच्छेद 14 का वहां तक अतिक्रमण करते हैं जहां तक कि वे

---

[1] (1980) 2 एस० सी० सी० 684.

1980(11) eILR(PAT) SC 122

मनमाने या अविवेकशील हैं क्योंकि वे दण्ड के सुधारात्मक पहलू को नज़र-अन्दाज़ करते हैं।

न्यायाधिपति फ़ज़ल अली द्वारा दिया गया निर्णय :

न्यायाधिपति फज़ल अली—

82. यद्यपि मैं न्यायाधिपति कृष्ण अय्यर द्वारा प्रस्थापित निर्णय से सहमत हूं, फिर भी मैं यह चाहूंगा कि मामले की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताओं पर तथा न्यायाधिपति कृष्ण अय्यर द्वारा जैसा प्रकाश डाला गया है, दण्ड विज्ञान के सुधारात्मक पहलू की प्रकृति पर अपने मत अभिव्यक्त करूं।

83. दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 433-क को पुरःस्थापित करने में विधान-मंडल का प्रमुख प्रयोजन और स्वीकृत उद्देश्य किसी संदेह के बिना घृणित अपराधों के लिए जो कायर, पाशविक या निर्दयी ढंग से किए जाते हैं अथवा देश की प्रतिरक्षा या सुरक्षा के विरुद्ध किए गए अपराधों के लिए, निवारक दण्ड सुनिश्चित करना प्रतीत होता है। यह सत्य है कि दण्ड देने की आधुनिक प्रवृत्ति में सुधार की झलक प्रतीत होती है जिससे कि जेल में अपराधी को निरुद्ध रखने की अपेक्षा उसके सुधार पर जोर दिया जा सके जो एक आदर्श उद्देश्य है। साथ ही साथ यह नहीं कहा जा सकता कि ऐसा उद्देश्य आवश्यक सुविधाओं, अपेक्षित शिक्षा तथा समुचित वातावरण पैदा किए बिना प्राप्त किया जा सकता है, जो किसी अपराधी में पछतावे और अफसोस की भावना जागृत करने के लिए सृष्ट किया जाना चाहिए जिससे कि उसमें ऐसी मानसिक अथवा मनोवैज्ञानिक क्रान्ति पैदा हो कि वह मानव जीवन के साथ खिलवाड़ करने के परिणाम को महसूस कर सके। आज के संसार में और विशेषकर हमारे देश में इस आदर्श को अभिप्राप्त करना अभी शेष है और वस्तुतः हमारे समस्त प्रयत्नों के बावजूद इस पुनीत लक्ष्य को प्राप्त करने में एक लम्बा समय लग जाएगा।

84. इस तर्क में, कि मृत्यु दण्ड के बावजूद हत्याएं बन्द नहीं हुई हैं, कोई सार नहीं है क्योंकि पहले तो हम इस बात को माप नहीं सकते हैं, संख्या या आंकड़ों का अन्दाजा नहीं कर सकते हैं या उन्हें एकत्रित नहीं कर सकते हैं कि उस समय क्या होगा जब कि मृत्यु दण्ड को समाप्त कर दिया जाए अथवा दीर्घकालिक कारावास के दण्ड को कम कर दिया जाए। दूसरे, विभिन्न

1980(11) eILR(PAT) SC 122

अपराधियों की प्रतिक्रिया विभिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न होती है और उनका आपराधिक आचरण पर किसी विशेष परिस्थिति के प्रभाव का पूर्वानुमान करना कठिन है। अपराधियों के सुधार की प्रक्रिया गैर अभिनिश्चित अभिलेख होने से भारी खतरा पैदा कर देगी क्योंकि अपराधियों का बड़ी संख्या में सुधार होने के स्थान पर उन्हें एक के पश्चात् दूसरा अपराध करने और समाज के लिए गम्भीर तथा भयानक खतरा बनने के लिए प्रोत्साहित करेगी।

85. अतएव प्रश्न यह है कि देश को निर्दोष व्यक्तियों के जीवन की हानि का खतरा उन अपराधियों के लिए, जो घृणित अपराध करते हैं, इस पुनीत आशा या सद्भावपूर्ण विचार के लिए लेना चाहिए कि एक न एक दिन कोई अपराधी चाहे वह कितना ही खतरनाक या भयंकर क्यों न हो, अपना सुधार कर सकेगा। बाल्मीकियों का जन्म रोज-रोज नहीं होता है और इस बात की आशा करना कि हमारी वर्तमान पीढ़ी प्रचलित सामाजिक और आर्थिक वातावरण में दिनोंदिन बाल्मीकियों को पैदा करेगी, ऐसी आशा करना है, जो असम्भव है।

86. धारा 433-क विशेष रूप से एक अत्यन्त संकुचित क्षेत्र में लागू करने के लिए अधिनियमित की गई है और इसके प्रविषय के भीतर केवल ऐसे अपराध सम्मिलित हैं जो भारतीय दण्ड संहिता की धारा 121, 132, 302, 303, 396 इत्यादि के भीतर आते हैं अर्थात् केवल वे अपराध जिनमें केवल मृत्यु अथवा आजीवन कारावास की शास्तियां हैं किन्तु मृत्यु के स्थान पर जहां आजीवन कारावास दिया गया है अथवा जहां मृत्यु के दण्ड को घटाकर आजीवन कारावास में परिवर्तित कर दिया गया है।

87. शास्ति विज्ञान की समस्या ऐसी नहीं है जिसका सरलता से समाधान किया जा सके। यह तर्क कि किसी कैदी को 14 वर्ष तक निरुद्ध रखने से क्या फायदा हो सकता है, वस्तुतः विचार करने योग्य प्रश्न है क्योंकि इतनी दीर्घ अवधि के लिए निरोध चाहे वह कितना ही सुखदायी हो, अपने आप किसी भी मुजरिम या अपराधी को ऐसा अपराध करने से रोकने के लिए पर्याप्त है जिससे कि उसके जीवन के अच्छे खासे भाग के लिए निरुद्ध रहने का दंडादेश उसे न मिले। किसी ऐसे दंड के प्रभाव का निर्णय शुद्ध रूप से नैतिक दृष्टि से नहीं किया जाता है, अपितु ऐसे दृष्टिकोण से किया जाता है जो व्यावहारिक और फलमूलक हो।

88. अपराध का वर्णन एक ऐसे कार्य के रूप में ठीक ही किया गया है जो विधिहीनता की नवीन सीमाओं को छूने वाला समुदाय से एक होड़ हो। निवारक दंडादेश अधिरोपित करने के तीन उद्देश्य हैं—

1980(11) eILR(PAT) SC 122

(1) समुदाय का ऐसे खतरनाक अपराधियों के विरुद्ध संरक्षा करना जो लम्बे समय से रह रहे हैं,

(2) यथासंभव दूसरों को जो एक युद्ध स्तर पर विधिविहीनता में उनका अनुसरण करने के लिए आकर्षित होते हैं, पूर्ण रूप से बचाने की चेष्टा करना यदि वे लाए गए हैं और सिद्धदोष किए गए हैं तो उन्हें निवारक दण्ड दिया जाएगा, और

(3) उन अपराधियों को जिन्हें दीर्घकालिक अवधि के कारावास भुगतने के लिए विवश किया गया है भविष्य में अपने दाण्डिक कार्यों को दोहराने से निवारित करना। सुधारात्मक दण्ड के दृष्टिकोण से भी "दीर्घकालिक और अनिश्चित निरोध न केवल निवारण के लिए ही न्यायोचित है, अपितु उपचार के लिए भी। अपराधी को एक अर्थ में एक प्रकार से रोगी समझा गया है जिसे केवल उस समय निर्मुक्त किया जाता है जब उपचार का उस पर असर होता है और उसे समाज के लिए सुरक्षित समझा जा सकता है।"

89. सर लिओन रेडजिनोविक्ज़ ने अपनी पुस्तक "दी ग्रोथ ऑफ क्राइम" में दीर्घकालीन कारावास के महत्वपूर्ण और व्यावहारिक लाभों को स्पष्ट करते हुए निम्नलिखित मत ठीक ही व्यक्त किया था—

"लम्बे कारावास को समस्त तीन अपेक्षाओं का स्पष्ट उत्तर समझा जा सकता है : इससे कुकर्मियों को एक लम्बे समय के लिए कारागार में रखा जाएगा ; इससे यह जाहिर हो जाएगा कि यह खेल दूसरों के खिए लाभदायी नहीं है।"

(पृष्ठ 195)

90. लेखक ने अपने दृष्टिकोणों के समर्थन में इस प्रकार उदाहरण दिए हैं—

"दो अंग्रेजी पुलिस अधिकारियों को रिश्वत लेने और न्यायालयों के खिलाफ उकसाने, षड्यन्त्र करने के संबंध में दो अन्य व्यक्तियों को आवारागर्दी करने के लिए 7 वर्ष के कारावास का दण्डादेश दिया गया था। इसी प्रकार से टर्की में एक लेखक को मार्क्स और एन्जल की पुस्तकों का अनुवाद करने और उन्हें प्रकाशित करने के लिए दण्डादेश दिया गया था। रूस में एक यांत्रिकीय मरम्मत करने वाली दुकान के प्रबन्धक को राज्य की सम्पत्ति की चोरी करने के लिए मृत्यु से दण्डादिष्ट किया गया था। फिलिपाइन्स में एक चीनी

1980(11) eILR(PAT) SC 122

व्यापारी को मादक द्रव्यों का व्यापार करने के लिए फायरिंग स्क्वॉड द्वारा खुले आम मारे जाने का दण्ड दिया गया था। नाइजीरिया में लगभग 80 लोगों को सशस्त्र डकैती के लिए एक या दो वर्ष के भीतर इसी प्रकार के दण्ड दिए गए थे।

इन सभी दण्डादेशों में निश्चित रूप से निवारण और बदले के तत्व थे। किन्तु इनमें एक और तत्व जो सामान्य है, जिसे तिरस्कार कहा जा सकता है, यह उन मान्यताओं को जिन्हें आघात पहुंचाया गया था, प्रभावशाली रूप से पुनः स्थापित करता है या स्थापित करता है।"

(पृष्ठ 197)

91. किन्तु साथ ही साथ यह नहीं कहा जा सकता कि अपराध के अनुपात से बाहर कोई दण्डादेश किसी सभ्य समाज के सामाजिक मनोभावों के अत्यधिक प्रतिकूल होता है। मामले के इस तत्व का धारा 433-क में पूर्ण रूप से ध्यान रखा गया है और इसलिए उसे उसके लागू होने वाले अपराधों के उन प्रवर्गों तक सीमित रखा गया है जो घृणित हैं और मानवता को कठोर आघात पहुंचाने के समान हैं। सर लिओन रेडजिनोविक्ज़ ने मामले के इस पहलू पर निदेश करते हुए इस प्रकार मत व्यक्त किया—

"कोई न्यायाधीश विभिन्न प्रकार के अपराधों के लिए कठोरतम शास्तियां, उच्चतर सीमा के दण्डादेश अधिरोपित कर सकता है, जो किसी भी पद्धति के लिए जिसमें विधि के शासन की पुष्टि की गई है, आवश्यक हैं। आक्षेप केवल उस समय उठते हैं जब ये शास्तियां जनता की न्याय की भावना के अनुसार तर्कहीन, असंगत हो जाती हैं·········।

अतः अधिकतम शास्तियों की समस्या यह नहीं है कि उन्हें अधिकथित किया जाए अथवा नहीं अपितु यह है कि क्या उन्हें अपराधों की तुलनात्मक गम्भीरता के सम्बन्ध में व्यक्तियों के निर्धारण के अनुपात के अनुसार युक्तियुक्त रूप से दिया जा सकता है या नहीं और वे जो कमियां हैं, उनमें वृद्धि करने के स्थान पर दण्डादेशों के लिए एक निरन्तर मार्गदर्शक हैं।"

(पृष्ठ 216)

92. इसी प्रकार उसी लेखक ने अपनी पुस्तक "क्राइम एण्ड जस्टिस" के खण्ड 2 में निम्नलिखित मत व्यक्त किया था—

1980(11) eILR(PAT) SC 122

"वह हल जिसके लिए अधिकतर सामयिक प्रयास किए गए हैं, यह कि विधायी कृत्य का श्रेष्ठतम निर्वहन विभिन्न दण्ड देने वाले प्रवर्गों की एक छोटी संख्या को सृष्ट करके किया जा सकता है........ और इससे एक ऐसे क्षेत्र में जो सीमित हो उस सीमा तक एक संकीर्ण रेखा खींचने के फायदे पर जोर दिया जा सकता है जिससे कि उसे किसी भी तरह से प्राप्त किया जा सके। यह उन व्यक्तियों के प्रयत्नों से हो सकता है जो विशेष अपराधी को जानने और उसके संबंध में न्याय करने की स्थिति में हैं।"

(पृष्ठ 332)

"दण्ड देने वाले प्रवर्गों की एक स्पष्ट संख्या का अस्तित्व और प्रत्येक में अपराधियों की एक सूची से, दूसरे शब्दों में वर्तमान अपराधों के लिए बराबर उपचार का आश्वासन देने और नवीन अपराधों के लिए समुचित दण्डादेश का अवधारण करने में पर्याप्त सहायता मिलनी चाहिए।"

(पृष्ठ 340)

93. यह वही है जिसके प्राप्त करने की चेष्टा यथार्थ रूप से दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 433-क द्वारा एक छोटा सा और विशेष क्षेत्र बना कर की गई है जिसके भीतर केवल कानूनी उपबन्ध प्रवर्तित हों।

94. जब कि हम इस बात से सहमत हैं कि दण्ड का निवारक रूप, दण्ड का एक अत्यन्त उपयुक्त अथवा आदर्श रूप नहीं हो सकता, तथापि यह तथ्य बना रहता है कि निवारक दण्ड अपराधों के घटित होने का निवारण—

(i) किसी अपराधी के लिए विधि को फिर से भंग करके करना असंभव अथवा कठिन बना कर,

(ii) न केवल अपराधियों का निवारण करके अपितु अन्य व्यक्तियों को अपराध करने से उनका निवारण करके, और

(iii) दण्ड अथवा उस संबंध में लम्बी कालावधि के कारावास के रूप में दण्ड देकर करता है जो किसी व्यक्ति के चाल-चलन अथवा व्यक्तित्व को परिवर्तित करने का एक साधन हो सकता है जिससे कि व्यक्तिगत या सामान्य प्रकृति के उद्देश्य या कारणों से अपराधी विधि का पालन कर सकता है।

हॉडरिच ने अपनी पुस्तक "पनिशमेंट" में निवारक दण्ड के संबंध में विचार करते समय निम्नलिखित मत व्यक्त किया था—

> "इस बात पर भी ध्यान देना चाहिए कि परिस्थितियों के दूसरे परिणाम भी होते हैं। शास्तियां प्रभावी रूप से निवारण करने के लिए पर्याप्त कठोर होनी चाहिएं।"

बेन्थम ने भी इस बात की ओर संकेत किया है कि कोई शास्ति न्यायोचित हो सकती है जब उससे अपराधियों और दूसरों को कष्ट होता है जो उससे अधिक कष्ट नहीं है जो उसके परिणामस्वरूप होगा यदि वह और अन्य व्यक्ति निवारित न होने पर भविष्य में अपराध करें। टैड हॉडरिच ने दण्ड के निवारक रूप के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालते हुए निम्नलिखित निष्कर्ष निकाला है—

> "ऐसे वर्ग के अपराधी होते हैं जो दण्ड के परिणाम से डरते नहीं हैं, यह नहीं स्वीकार किया जा सकता कि किसी समाज को सभी अपराधियों को केवल दण्ड के द्वारा निवारित करने का प्रयास करना चाहिए······दण्ड के मध्य मार्गी सिद्धान्तों पर विचार-विमर्श करने से पूर्व हम यह कह सकते हैं कि ऐसा दण्ड न्यायोचित हो सकता है जो आर्थिक रूप से निवारण करने वाला और वांछित हो।"

95. मैं सैद्धान्तिक रूप से कदापि सुधारात्मक दण्ड के विरुद्ध नहीं हूं जो वस्तुतः समय की प्रमुख आवश्यकता है, किन्तु इस मामले पर ग्रैम न्यूमैन द्वारा उसकी पुस्तक "दी पनिशमेंट रिसपान्स" में विस्तारपूर्वक विचार किया गया है और जिसमें उसने इस बात की ओर ठीक ही संकेत किया है कि इससे पूर्व कि सुधारात्मक दण्ड को सफलता मिले, जनसाधारण को समुचित रूप से शिक्षित होना चाहिए और अपराध करने के परिणामों को समझना चाहिए। लेखक ने अपने मत को निम्नलिखित रूप से व्यक्त किया है—

> "संक्षेप में मैंने यह सुझाव दिया है कि वह व्यवस्था जो किसी आपराधिक कार्य द्वारा सृष्ट की गयी थी, वह किसी संरचनात्मक असमानता के बिना अस्तित्व में नहीं रह सकता है। व्यवस्था या प्राधिकार को दण्ड द्वारा व्यवस्थित रखना चाहिए अन्यथा उससे अधिक ही क्रांतियां और युद्ध होंगे जो हमारे सम्पूर्ण इतिहास में हुए हैं।
>
> ···· ··· ····
>
> आपराधिक न्याय के सम्बन्ध में लोग यह बहुत अच्छी तरह

जानते हैं कि ऐसे सुधार जिनका आशय सर्वोत्तम हो, कभी-कभी दुर्भाग्यपूर्ण परिणामों में परिवर्तित हो जाते हैं।

... .

अतः उदाहरण के तौर पर दाण्डिक दण्डादेश के क्षेत्र में इस समय लोकप्रिय विचार यह है कि व्यावहारिक रूप से सुधार दाण्डिक विधि के ऐतिहासिक पूर्वोदाहरणों पर सुआधारित होना चाहिए न कि उन शानदार स्कीमों पर जो उसे भी समाप्त कर देती हैं जो प्राप्त किया गया है। शानदार स्कीमों के अनेक ऐसे उदाहरण रहे हैं जो कागज पर महान दीखते हैं, किन्तु जिस समय उन्हें विधान में परिवर्तित किया जाता है तो वे पूर्ण रूप से अमान्य हो जाते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि दण्डादेश देने में सुधार निवारण विधान द्वारा अभिप्राप्त नहीं किया जाना चाहिए, अपितु दाण्डिक विधि के पहले से ही वर्तमान व्यवहार और सिद्धांत का सूक्ष्म विश्लेषण करके और उसका बहिष्कार करके किया जाना चाहिए।"

96. इन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए मेरी स्पष्ट रूप से धारणा यह है कि धारा 433-क का वास्तविक रूप से एक ऐसा सामाजिक विधान है जो एक ही वार में खतरनाक अपराधियों को अपराधों को दोहराने से रोकना चाहता है और दूसरी ओर निर्दोष व्यक्तियों को हानि और पीड़ा पहुंचने से समाज का संरक्षण करता है।

97. शास्ति विज्ञान की आधुनिक प्रवृत्ति को ध्यान में रखते हुए ऐसे बहुत कम मामले हैं जहां न्यायालय मृत्यु का दण्ड अधिरोपित करते हैं और इस पर भी कुछ मामलों में जहां ऐसे दण्डादेश दिए जाते हैं उस समय तक जब मामला इस न्यायालय में पहुंचता है, ऐसे बहुत ही कम मामले रह जाते हैं जिसमें मृत्यु दण्डादेशों की पुष्टि की जाती हो। ऐसे मामले केवल वे होते हैं जिनमें मृत्यु के दण्डादेश का अधिरोपण, अपराधी की प्रकृति और स्वरूप, अपराधी के पूर्ववृत्त तथा अन्य तथ्यों को जिनके प्रति बचन सिंह बनाम पंजाब राज्य[1] में इस न्यायालय की सांविधानिक न्यायपीठ में निर्देश किया गया है, को ध्यान में रखते हुए एक आज्ञापक आवश्यकता बन जाते हैं। इन परिस्थितियों में, मेरी यह राय है कि संसद् ने अपराधियों को घृणित अपराध करने से उनका निवारण करके बुद्धिमत्ता का कार्य किया है जिससे कि अपराधी चौदह वर्ष की न्यूनतम कारावास की अवधि को भोगे बिना दण्डादेश में

[1] (1980) 2 एस० सी० सी० 684.

1980(11) eILR(PAT) SC 122

सरलतापूर्वक कमी करके या उसे परिवर्तित करके निर्मुक्त न हो सके, जो वस्तुतः एक पर्याप्त निवारक के रूप में कार्य कर सकता है जो अपराधियों को अपराध करने से रोक सकता है। देश के अधिकतर भागों में विशेष कर उत्तर में ऐसे मामले कम नहीं हैं जहां कोई व्यक्ति जिसे आजीवन कारावास का दण्डादेश दिया गया है और अनेक छूटें प्राप्त करने के पश्चात् वापस आने पर वह अपराध फिर से बार-बार करता है। मात्र यह तथ्य कि दीर्घकालिक अवधि का दण्डादेश अथवा उस संबंध में कोई मृत्युदण्ड के लाभदायी परिणाम नहीं निकले हैं, या तो मृत्यु दण्ड के समाप्त करने अथवा आजीवन कारावास की अवधि को 14 वर्ष से कम के दण्डादेश तक घटाने के तर्क का समर्थन नहीं कर सकता। प्रश्न यह नहीं है कि जो कुछ हुआ है वह दण्ड संहिता के उपबन्धों के कारण हुआ है बल्कि यह है कि यदि निवारक दण्डादेश न दिया जाए तो उसका परिणाम क्या होगा। वर्तमान कष्टदायी और अशान्तिपूर्ण वातावरण में हमारी भावना यह है कि यदि निवारक दण्डादेश प्रत्यावर्तित न किया गया तो सम्पूर्ण देश में आकुलता फैल जाएगी और अपराधी हमारे देश के हजारों निर्दोष व्यक्तियों के जीवन को खतरे में डालने के लिए आजाद हो जाएंगे। राज्य के पास उसके सभी सिद्धांतों के होते हुए उसके लिए सभी नागरिकों के जीवन और स्वतन्त्रता की रक्षा अथवा गारण्टी करना कठिन हो जाएगा यदि अपराधियों को छोड़ दिया जाए और निवारक दण्डादेश या तो समाप्त कर दिया जाए अथवा कम कर दिया जाए। दूसरे, जबकि अपराधी का सुधार इस मामले का केवल एक पक्ष है, तो घटनाग्रस्त व्यक्तियों का पुनः स्थापित किया जाना और उन यन्त्रणाओं और कष्टों से जो उन्हें, अपराधियों द्वारा किए जाने वाले अपराधों के परिणामस्वरूप होते हैं, अनुतोष प्रदान करना एक ऐसा तथ्य है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि निवारक दण्डादेशों को समाप्त करने के लिए अपराधियों के हित का संरक्षण करते समय उसे पूर्ण रूप से नजर अन्दाज कर दिया गया है। जहां एक व्यक्ति तीन हत्याएं करता है वहां अपराधी के लिए कोई अभिवाक् प्रस्तुत करना और इस बात पर कोई भी ध्यान दिए बिना कि आहत व्यक्तियों और उनके परिवारों पर क्या गुजरी है, उनके जीवित रहने के लिए तर्क देना तर्कहीन है। कोई व्यक्ति जिसने किसी दूसरे व्यक्ति को उसकी दैहिक स्वाधीनता से सदैव के लिए वंचित कर दिया है और उसके परिवार की स्वाधीनता को खतरे में डाल दिया है, उसे न्यायालय से यह मांग करने का कोई अधिकार नहीं है कि उसकी दैहिक स्वाधीनता बनाए रखी जाए। स्वाधीनता कोई एकपक्षीय धारणा नहीं है, न ही संविधान के अनुच्छेद 21 में किसी ऐसी धारणा की कल्पना की

गई है। यदि कोई व्यक्ति दाण्डिक अपराध करता है और उसे विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया द्वारा दण्ड दिया गया है जो निष्पक्ष और ऋजु है और जहां अभियुक्त की पूर्ण रूप से सुनवाई की गई है वहां अनुच्छेद 21 का उल्लंघन करने का कोई प्रश्न नहीं उठता है जब दण्ड के प्रश्न पर विचार किया जा रहा हो। इस पर भी 1973 की दण्ड प्रक्रिया संहिता के उपबन्धों में अपराधी को उसका दोष साबित होने के पश्चात् उन परिस्थितियों को दर्शित करने का अवसर देने का उपबन्ध किया गया है जिनके अधीन कोई समुचित दण्डादेश उस पर अधिरोपित किया जा सकता हो। ये गारण्टियां पर्याप्त रूप से अनुच्छेद 21 के उपबन्ध का अनुपालन करती है। इस प्रकार हमें यह प्रतीत होता है कि दण्ड विज्ञान की समस्या पर विचार करते समय हमें विपदाग्रस्त व्यक्तियों के हित और उन व्यक्तियों के दुखों को नजर-अन्दाज नहीं करना चाहिए जिनकी मृत्यु होती है, जिन्हें कष्ट भोगना पड़ता है अथवा जो अपराधियों के हाथों अंग-विच्छेदित हो जाते हैं।

98. इन कारणों से स्पष्ट रूप से हमारी यह राय है कि ऐसे मामलों में जहां धारा 433-क लागू होती है, दण्डादेश को घटाने का सर्वथा कोई प्रश्न नहीं उठता है जब तक कि भारत के राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल संविधान के अनुच्छेद 72 अथवा अनुच्छेद 161 के अधीन पूर्ण विस्तृत शक्तियों के प्रयोग करने का निश्चय न करें, जिनका प्रयोग उचित विधिक सिद्धांतों के अनुसार किया जाता है जैसा कि न्यायाधिपति कृष्ण अय्यर द्वारा कहा गया है। अतएव मेरा विचार है कि निवारक दण्डादेश में कोई कमी या उपान्तरण सुधारात्मक होने के बजाय दुगने अपराधी उत्पन्न करेगा।

99. अतः पूर्व उल्लिखित स्थितियों को ध्यान में रखते हुए यह निष्कर्ष निकालना अपरिहार्य है कि संसद् ने धारा 433-क को अधिनियमित करके उसके द्वारा परिकल्पित अपराधों के संबंध में हमारे देश में वर्तमान परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए सम्यक् रूप से दण्ड की सुधारात्मक प्रकृति को रद्द कर दिया है। यह सुस्थापित है कि विधानमण्डल अपने व्यक्तियों की जरूरतों और अपेक्षाओं को न्यायालयों के समक्ष ज्यादा अच्छी तरह समझता है क्योंकि संसद् में जनता के निर्वाचित प्रतिनिधि सम्मिलित होते हैं और यदि संसद् जनता के फायदे के लिए किसी विधान को अधिनियमित करने का विनिश्चय करती है तो ऐसे विधान का अर्थपूर्ण निर्वचन किया जाना चाहिए और इस प्रकार प्रभावी किया जाना चाहिए जिससे कि उस प्रयोजन को प्राप्त किया जा सके जिसके लिए वह अभिप्रेत है।

1980(11) eILR(PAT) SC 122

100. निस्संदेह भारत के राष्ट्रपति को अनुच्छेद 72 के अधीन और राज्य सरकार को अनुच्छेद 161 के अधीन क्षमा प्रदान करने, मृत्यु दण्ड को रोकने, कम करने आदि की पूर्णरूपेण और अनिर्बन्धित शक्तियां हैं। इस शक्ति को किसी कानूनी उपबन्ध द्वारा न तो प्रत्यावर्तित किया जा सकता है अथवा उपान्तरित किया जा सकता है या उसमें हस्तक्षेप किया जा सकता है। किन्तु यह तथ्य रह जाता है कि शक्ति जितनी भारी होगी उसका प्रयोग उतनी ही सावधानी से किया जाना होगा। ऐसा विशेषकर इस कारण से है क्योंकि वर्तमान अधिनियमिति स्वयं केन्द्रीय सरकार द्वारा पेश करने पर संसद् द्वारा पारित की गई है। अतएव यह स्पष्ट है कि संविधान के पूर्वोक्त अनुच्छेद के अधीन शक्तियों का प्रयोग करते समय न तो राष्ट्रपति जो मंत्री परिषद की सलाह पर कार्य करता है न ही राज्य सरकार के लिए धारा 433-क के उद्देश्य, भावना और दर्शन को नजर-अन्दाज करने की संभावना है जिससे कि वैधानिक आशय और कार्यपालिक शक्ति के बीच झगड़ा उत्पन्न हो। विधि की प्रस्थापना के रूप में इस पर संदेह नहीं किया जा सकता कि जहां कोई शक्ति किसी अत्यन्त उच्च प्राधिकारी में निहित होती है वहां यह उपधारणा की जानी चाहिए कि उक्त प्राधिकारी, मामले के समस्त पहलुओं पर उद्देश्यात्मक रूप से विचार करने के पश्चात् औचित्यपूर्वक और सावधानी से कार्य करेगा।

101. इस दृष्टिकोण के अनुसार मैं धारा 433-क और संविधान के अनुच्छेद 72 और 161 के बीच कोई वास्तविक असंगति पाने में असमर्थ हूं, जैसी कि पिटीशनरों द्वारा दलील दी गई है। मैं यह भी अभिनिर्धारित करता हूं कि वे समस्त आधार जिन पर धारा 433-क की सांविधानिक विधिमान्यता को चुनौती दी गई है, असफल होने चाहिएं। मैं पिटीशनों को इस उपान्तरण सहित खारिज करता हूं कि धारा 433-क केवल भविष्यक्षली रूप से लागू होगी, जैसा कि न्यायाधिपति कृष्ण अय्यर द्वारा संकेत किया गया है।

पिटीशन खारिज किए गए।

ता०/श्री०/भू०

———